# स्मृतियों के संचित पराग

अस्मिन्भारतखण्डे प्रभात्यपूर्वो हि भातखण्डेऽयम् ।
स्वररसज्ञानविमूर्छन—माधुर्योजःप्रसाद—सम्बाता ।।

पं० ललितापति शास्त्री बाजपेयी, भीमपुरे

ग्वालियर
दिनांक ११ दिसम्बर १९२४
('जयाजी प्रताप' से उद्धृत)

जुग जुग जीवो रे
मोरे गुरुराई,
चतुर सुजान
गुण निधान
अपनो सुधारो काजे ।। स्थायी ।।
जो मोपे दया तें कीन्ही,
का बिध होऊँ
अब उतराई,
दे हो बता आज ।। अंतरा ।।

—डा० श्री० ना० रातांजनकर "सुजान"

(यमनीबिलावल, तिलवाड़ा में निबद्ध)

## अनुक्रम


१ संशोधनात्मक प्रवृत्ति की नींव तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण
**पद्मविभूषण ह० वि० पाटस्कर, भू० पू० राज्यपाल (म० प्र०)**

२ हमारी खुश किस्मती से ऐसा आलिम प्रोफेसर हमको मिल गया
**स्व० श्रीमंत महाराज माधवराव सिंधिया, ग्वालियर**

३ उन्होंने मुझे सुसंस्कृत किया
**स्व० संगीतरत्नालंकार आचार्य राजाभैया पूछवाले, ग्वालियर**

४ बड़े से बड़ा वेतन भी उन्हें आदर्शों से च्युत न कर सका
**स्व० आचार्य भास्कर रामचन्द्र खाण्डेपारकर, उज्जयनी**

५ वे मेरे उस्ताद थे और परम मित्र भी
**स्व० राजा ठाकुर नवाब अली खाँ, अकबरपुर**

६ सारा देश इनकी कृतियों से व्याप्त है
**स्व० पं० फिरोज फ़ामजी, पूना**

७ पण्डित जी से मैंने प्रेरणा पाई
**स्व० उस्ताद बुन्दू खाँ**

८ विशिष्टानाम् विशिष्टेषु संगमो गुणवान् भवेत्
**स्व० रावबहादुर स० गो० परचुरे, ग्वालियर**

९ ग्वालियर के संगीत का उत्थान किया
**स्व० रावसाहब गो० ना० अम्बडेंकर, ग्वालियर**

१० गायनकला का लोप और राजपरिवार की व्याकुलता
**स्व० श्री वि० गं० ओदक, ग्वालियर**

११ संगीत कला गरीब-अमीर सबके लिए सुलभ हो गई
**स्व० रावबहादुर ल० भा० मुले, ग्वालियर**

१२ उत्तर प्रदेश का परम सौभाग्य
**राय उमानाथ बली, लखनऊ**

१३ भारतीय विद्या-संस्कृति का अखूट भण्डार
**महाराणा विजयदेव जी, धरमपुर**

१४ ऐसा धमार मैंने नहीं सुना
**प्रो० नारायण लक्ष्मण गुणे, इलाहाबाद**

१५ मैं भी कितना भाग्यशाली हूँ !
**प्रो० बालाजी श्रीधर पाठक, इलाहाबाद**

१६ पण्डित जी की अदालत में ध्रुवपद का मुकदमा
**आचार्य गो० ना० नातू, लखनऊ**

१७ स्नेह के अथाह सागर
**प्रो० विष्णु शामराव अत्रे, ग्वालियर**

१८ खानदानी परम्परा के वास्तविक संरक्षक
**प्रो० बा० ना० मुण्डी, ग्वालियर**

१९ गुरु-शिष्य का अलौकिक प्रेम
**श्री एम० के० सामन्त, वाराणसी**

२० पास हुए हो, परन्तु प्रमोशन नहीं
**आचार्य बालासाहब पुछवाले, ग्वालियर**

२१ कुशल एवं परिपक्व गायक
**आचार्य रा० मा० अग्निहोत्री, ग्वालियर**

२२ बम्बई के भातखण्डे और उनके बण्डा का मैं बण्डा
**आचार्य बालाभाऊ उमड़ेकर, ग्वालियर**

२३ हम गायकों का भाग्य खुल गया
**श्रीमती अंजनीबाई मालपेकर, बम्बई**

२४ वे क्षण सर्वोत्तम थे
**पद्मभूषण उस्ताद अलाउद्दीन खाँ, मैहर**

२५ अन्ततः मुझे भी वही रास्ता अपनाना पड़ा
**स्व० गायनाचार्य रामकृष्ण बुवा वझे, पूना**

२६ संगीत के आधुनिक भीष्माचार्य
**प्रो० ग० ह० रानडे, पूना**

२७ संसार भर के संगीत के इतिहास में अनन्यतम
**ठाकुर जयदेव सिंह, वाराणसी**

२८ हर कोई शिक्षक नहीं हो सकता
**आचार्य गोविन्दराव राजूरकर, अजमेर**

२९ मेरे कण्ठ के सुधार का श्रेय पं० भातखण्डे को ही है
**आचार्य एम० ए० गोलवलकर, इन्दौर**

३० एक पथभ्रष्ट को कर्तव्य की अनुभूति
**आचार्य वा० भा० खाण्डेपारकर, उज्जयनी**

३१ रावसाहब के शब्दों में उनकी अपनी कहानी
**श्री दारावशा एम० कात्रक, बम्बई**

३२ संत और कैसे होते हैं ?
**श्री ग० ना० रातांजनकर, बम्बई**

३३ बड़ों की बड़ी बातें
**आचार्य विष्णु अण्णाजी कशालकर, इलाहाबाद**

३४ स्वरलिपि एक सुविधा है, अपने वैशिष्ट्य का प्रदर्शन नहीं
**आचार्य हिरजीभाई आर० डाक्टर, बड़ौदा**

३५ वर्तमान संगीत को अमृत दान दिया।
**श्री प्रभुलाल गर्ग, हाथरस**

३६ भातखण्डे जी के सिद्धान्त उर्दू में समझाये
**श्री विश्वम्भर नाथ भट्ट, आगरा**

३७ यही भवन भावी संस्कारों का आधार
**श्री सुदामा प्रसाद दुबे, खातेगाँव**

३८ संगीत-नगरी में बिखरे हुए पराग
**'जयाजी प्रताप' से उद्धृत**

नमित सीस हम सबके
चतुरा के चरनन में,
जीवन जिन धन्य कियो
गीत-सेवा अरपन में ।। स्थायी ।।

गीत - वाद्य - निरत नाद
गृह - गृह में छाय रह्यो,
शास्त्र - भेद कर बखान
पायो मान गुनियन में ।। अन्तरा ।।

ऐसे गुनी, गुरु, ग्यानी,
सरसति के लाल, चतुर,
श्रद्धाञ्जलि अरपित यह
उनके गुन गानन में ।। अन्तरा ।।

—आचार्य गो० ना० नातू,

(भैरवी, एकताल में निबद्ध)

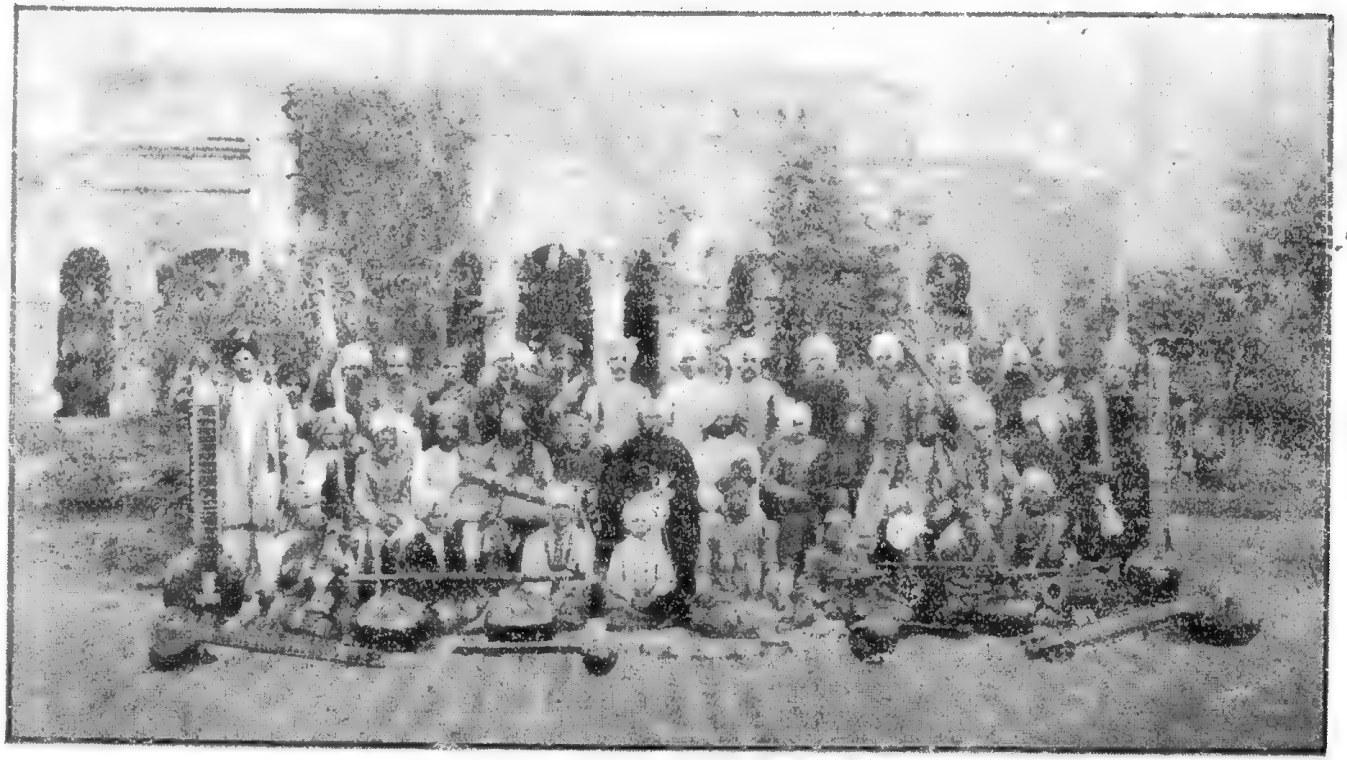

देहली में अखिल भारतीय संगीत परिषद् के द्वितीय अधिवेशन में आमन्त्रित देश के प्रमुख कलाकार [१९१८]

देहली में अखिल भारतीय संगीत परिषद् के द्वितीय अधिवेशन में कर्मठ साथियों के बीच पण्डित भातखण्डे [१९१८]

# संशोधनात्मक प्रवृत्ति की नींव तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण

पद्मविभूषण हरि विनायक पाटस्कर,
भू० पू० राज्यपाल, म० प्र०

भारतीय इतिहास में बीसवीं शति स्वर्णाक्षरों से अंकित की जायेगी। राजकीय, सामाजिक व सांस्कृतिक जागृति तथा पुनर्जीवन के लिए अनेकानेक महामानव इस शताब्दी में भारत भूमि पर अवतीर्ण हुए। राजकीय स्वातंत्र्य के अतिरिक्त जीवन के नानाविध मौलिक सिद्धांतों के प्रति देशवासियों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान करने का महत्तम कार्य इन्हीं सौ वर्षों में हुआ।

संगीत मानवी संस्कृति का एक अत्यंत प्रभावी एवं निर्दोष अङ्ग है। मध्यकाल में कतिपय शतकों में यह शास्त्र लुप्तवत् अवस्था को पहुँच चुका था। परम्परागत रागरूप व उनमें रचे हुए गीत गुप्त रखने की सङ्गीतकारों की प्रवृत्ति के कारण समस्त परम्परा के ही सर्वनाश हो जाने की संभावना स्पष्ट प्रतीत हो रही थी। ऐसी सङ्कटग्रस्त परिस्थिति में हमारी इस सम्पदा को सुरक्षित करने के लिए ही मानो पं० भातखण्डे का अवतार हुआ। परिवर्तित देश काल परिस्थिति के अनुसार समूचे संगीत शास्त्र का पुनरुद्धार किया, उसमें राष्ट्रीय दृष्टिकोण का निर्माण किया। 'हिन्दुस्तानी सङ्गीत पद्धति' इस शब्द ने समय की माँग को पूर्ण किया, जनता की धरोहर जनता को पुनः मिल गई।

परंतु इसके लिए उन्हें आमरण अथक परिश्रम करने पड़े। पर्याप्त साधनों के अभाव में देशव्यापी पर्यटन करने पड़े। उच्च परम्परा के गायक-वादकों के गीतों के भंडार को उपलब्ध कराने के लिए उनसे अनुनय करना पड़ा, प्रसङ्ग विशेष में उनका शिष्यत्व भी स्वीकार करना पड़ा। ऐसे सहस्रों गीतों का स्वरांकन करना कितना कष्टप्रद था, परंतु फिर भी उसे किया। रागों के इतिहास, उनके शास्त्र-नियम स्थापित किये। इस विद्या को एक पूर्ण विकसित विषय में बदल दिया। सङ्गीत में संशोधनात्मक प्रवृत्ति की नींव इन्होंने ही डाली। देश के सांस्कृतिक उत्थान में सङ्गीत विद्या तथा सङ्गीतजीवि और सङ्गीतानुरागी समाज अपना-अपना योगदान देने में सक्षम बने इस दृष्टि से जो भी कुछ आवश्यक था वह सारा या तो उन्होंने स्वयं किया अथवा उसकी ओर जागृति निर्माण कर दी। इतने बड़े देश की एकात्मकता सिद्ध करने के लिए दक्षिणोत्तर सङ्गम की दिशा में सक्रिय पदार्पण किया। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में ही सङ्गीतोद्धार की दिशा में देशव्यापी क्रांतिकारी सङ्घटना तैयार करने में पं० भातखण्डे जुटे हुए थे। अकेले एक व्यक्ति के हिमालय सदृश्य इन कार्यों को देखकर आज आश्चर्य होता है।

सङ्गीत के शिक्षण क्षेत्र में भी उन्होंने ऐसा ही अतुलनीय कार्य किया। अनेक विद्यालय स्थापित किए तथा उनके लिए साधन सामग्री उपलब्ध करा दी। बड़ी संख्या में विद्वान् गायक-शिष्य और विद्यालयों के प्रबंधक निर्माण किए। देश के कोने-कोने में सङ्गीत कला का दिव्य संदेश आज जो घर-घर में पहुंच रहा है उसका श्रेय पं० भातखण्डे को ही देना होगा। सङ्गीत के विश्वविद्यालय का स्वप्न सर्व प्रथम उन्होंने ही देखा था, आज उसके साकार हो जाने में उनकी प्रेरणा का बहुत बड़ा अंश है।

सङ्गीत की सामूहिक शिक्षा ! कम से कम ३-४ शताब्दियों से तो इस प्रकार का शब्द प्रयोग ही हम लोग भूल चुके थे। सङ्गीत के पुनरुत्थान में देशवासियों को अपने कर्त्तव्यों का स्मरण पं० भातखण्डे ने ही कराया। पारस्परिक अविश्वास, अशांति के आज के तङ्ग वातावरण को आंशिक रूप से हलका करने में पं० भातखण्डे द्वारा प्रेरित सामूहिक शिक्षा पद्धति कितनी उपकारी सिद्ध हो रही है। उनके कार्य का जितना भी गौरव किया जाय—कम ही है।

भविष्य में भारतीय संगीत की होने वाली उन्नति, प्रचार को योग्य दिशा दिखाते हुए स्फूर्ति, धैर्य प्रदान करने के पं० भातखण्डे जी के विपुल कार्य अथाह सागर में दीपस्तंभों की मालिका का काम करते रहेंगे, इसमें मुझे लेशमात्र शंका नहीं।

# हमारी खुश किस्मती से ऐसा आलिम प्रोफेसर हमको मिल गया

स्व० श्रीमंत महाराज माधवराव सिन्धिया, ग्वालियर

जनाब महराजा साहब व हाजरीन जल्सा,

एक वक्त था कि गायन का इल्म हमारे मुल्क में कैसे कमाल पर पहुंचा हुआ था। यह बात सब ही जानते हैं कि पुराने जमाने में हिन्दुस्तान में यह इल्म कितने ऊंचे दर्जे पर था, और कैसे-कैसे अहले कमाल हमारे यहाँ मौजूद थे। लेकिन वक्त के फेर से इस इल्म का जवाल हुआ, उसकी सब से बड़ी वजह यह थी कि जो लोग इस फ़न में माहिर थे, उन्होंने अपने शागिर्दों को इस इल्म के भेद नहीं सिखाये और इसीलिए यह फ़न इस देश से जाता रहा। यही हालत दूसरे फ़नों की भी हुई। शागिर्द हरचन्द कोशिश करते हैं, लेकिन उस्ताद उनको ठीक रास्ते पर नहीं डालते। जिससे सीखनेवाला हमेशा मुहताज बना रहता है और सीखकर फ़न में तरक्की नहीं करने पाता।

मेरा जाती तजरुबा है कि हमारे यहाँ की बैटरी (Battery) का एक सारजन्ट जो सितार बजाने का शौकिन था, उसने सात वर्ष तक इस बात की कोशिश की कि उसको कुछ आ जावे। उस्ताद की खुशामद में वह बराबर लगा रहा, और हर तरह से उसने मेहनत की, मगर सिर्फ इस वजह से कि उसको कायदे से रास्ते पर नहीं डाला गया, सात वर्ष की मेहनत का यह नतीजा हुआ कि उसे कुछ न आया। साहिबान, हमारे मुल्क में यह हालत है। उस्ताद लोग ऐसे कोताह अन्देश थे कि बावजूद इल्म से वाकिफ होने के उन्होंने उसको दूसरों को सिखाने में चोरी की, जिससे इल्म डूबता गया। तवायफों तक की यह हालत पाई गई कि माँ अपनी बेटी को गाना सिखाने में पहलूत ही करती है।

मेरे ख्याल में हम ग्वालियर के लोग खुश किस्मत हैं कि जमाने में हमको भातखण्डे जैसे काबिल प्रोफेसर की मदद मिल गई। यह वह जगह है कि जहाँ पर सारे हिन्दुस्तान के मशहूर व ऐतिहासिक तानसेन साहब का मजार शरीफ है। मुझे पाँच वर्ष से फिकर थी, कि इस जगह पर गायन विद्या के फिर प्रचार करने के लिए एक ठीक रास्ता डाला जावे। यह हमारी खुश किस्मती है कि ऐसा आलिम प्रोफेसर हमको मिल गया है कि जो इन बच्चों को ठीक तौर पर तालीम देकर हमारे यहाँ फिर इस विद्या का प्रचार करेगा।

चुनांचि ऐ साहिबजादो, नई गायन शाला खोलकर अब यह इन्तजाम किया गया है कि तुम एक सिलसिले से यह इल्म सीखो और जिसको फुरसत और शौक इजाजत दे, वह इस फ़न में कमाल हासिल करके इस विद्या का फिर एक दफा इस देश में प्रचार करे।

हम जब इंग्लिस्तान और दूसरे गैर मुल्कों से मुकाबिला करते हैं तो हमको अपनी हालत देखकर अफसोस होता है। उन मकामात पर इस विद्या के अहले कमाल को (Knighthood) और बड़े-बड़े मान दिये जाते हैं। क्या वजह है कि अपने यहाँ भी इस बात की कोशिश न की जावे कि जिससे लोग इस विद्या में कमाल हासिल करके नाम और इज्जत पैदा करें। मेरा ख्याल है कि अगर गानेवाला सुर में गावे तो उसको भी मजा आता है और सुननेवाले को भी। गाने के लिए यह भी जरूरी है कि, वह समय का व Audience (श्रोता मण्डली) कैसी है उसका अनुभव कर ले, जिससे कि सुननेवाले आनन्द में मग्न हो जावें और गाने की तारीफ करें।

लश्कर म्यूजिक स्कूल में जो काम गुजिश्ता दो-ढाई महीने में हुआ है और जो तरक्की इन बच्चों ने की है जैसा कि आज आप सबको उनके सुनने से जाहिर हुआ है, हर तरह काबिले तारीफ है, और आयन्दा को उम्मेद दिलाने वाली है।

शुरू में कोशिश यही की गई है, जैसा कि होना चाहिये कि कायदे के साथ बच्चों को Rudimentary यानी आरम्भिक बातें सिखाई जावें।

आखिर में मैं हाजरीन का शुक्रिया अदा करता हूं कि आपने यह तकरीर सुनकर मुझे इज्जत बख्शी। आज यहाँ पर मेरे खड़े होकर बोलने का मकसद यही था कि, आम लोगों को यह मालूम हो जावे कि ग्वालियर में म्यूज़िक इन्स्टिट्यूट कायम करने से मुराद क्या है, ताकि वह उसकी आयन्दा तरक्की में दिलचस्पी ले।

(चियर्स)

नोट—तारीख २४ मार्च सन् १९१८ ई० व मौके जल्सा जराअति व हिरफती नुमायश सन् १९१८ ई० शामयाना तफरीह वक्त ८ बजे रात। ग्वालियर म्यूज़िक इन्स्टिट्यूट के बालकों ने आज अपना गाना नुमायश में सुनाया। श्रीमान् महाराजा साहब राजपिपला व अनेक सरदार व आफिसरान व दूसरे साहब मौजूद थे। जल्सा आम था। बालकों का गाना खत्म होने पर श्रीमान् महाराजा साहब माधवराव सिंधिया ने यह स्पीच दी।

—'जयाजी प्रताप' से उद्धृत

# उन्होंने मुझे सुसंस्कृत किया

स्व० संगीतरत्नालंकार
आचार्य राजाभैया पूछवाले, ग्वालियर

संगीत कलानिधि श्रीमान् गुरुवर्य विष्णु नारायण उर्फ अण्णासाहब भातखण्डे बी० ए० एल० एल० बी० एक आदर्श एवं प्रतिभाशाली पुरुष थे। जिन्होंने संगीत-विद्या की उन्नति के लिए तन-मन-धन से अविश्रांत परिश्रम किये। इन परिश्रमों का फल माधव संगीत विद्यालय, लश्कर-ग्वालियर व मैरिस कालेज आफ हिन्दुस्तानी म्युज़िक, लखनऊ इन दोनों संस्थाओं के अस्तित्व और अखिल भारतवर्ष में संगीत विद्या के शिक्षण के दैनंदिन प्रचार से जनता को प्रत्यक्ष प्रमाणित हो सकता है। ऐसे अद्वितीय पुरुष के सहवास का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अतः श्री गुरुवर्य के चरित्र की कुछ बातें जो स्मृति में रख सका हूँ जनता की सेवा में सादर अर्पण करता हूँ।

माधव संगीत महाविद्यालय लश्कर-ग्वालियर की स्थापना दिनांक १०-१-१८ को श्रीमान् गुरुवर्य अण्णासाहब भातखंडे के परामर्श के अनुसार ग्वालियर दरबार ने की थी। उसमें श्री भातखंडे की संगीत पद्धति का शिक्षणक्रम रखने की दृष्टि से महाविद्यालय की स्थापना करने से पहले ही मुझे और अन्य छः कलावन्तों को स्कालरशिप देकर, हमारे कै० श्रीमान् माधवराव महाराज साहब शिन्दे ने संगीत के शिक्षण की सुलभ पद्धति की जानकारी कराने के लिये श्रीमान् गुरुवर्य की सेवा में बंबई भेजा था। वहाँ हमारे शिक्षण का क्रम नियमित तीन मास तक जारी रहा। हमारे रहने के स्थान पर श्रीमान् गुरुवर्य प्रतिदिन सुबह-शाम निश्चत समय पर उपस्थित होकर हमको शिक्षण देने की कृपा करते थे, जब कि भरपूर वेतन पाकर भी शिक्षक ऐसे नियमित समय का पालन नहीं कर पाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीमान् गुरुवर्य को संगीत-विद्या का प्रसार करने की कितनी तीव्र इच्छा थी। हम ग्वालियर के लोग अपनी प्रणाली के अत्यन्त अभिमानी थे। इसलिये श्री गुरुवर्य संगीत-विश्व में कितनी योग्यता के अधिकारी पुरुष हैं, इसका ज्ञान उस समय हमको नहीं था। इस कारण से गायन की चीजों का नोटेशन करते समय गुरुवर्य से बहुत ही वादविवाद होता था। परन्तु हमारे हठवाद पर अपने सामर्थ्य का शीतल प्रभाव डालकर युक्तिवाद से वे हमारा समाधान करते हुए योग्य मार्ग पर हमको खींचकर ले आते थे। इससे श्री गुरुवर्य की विलक्षण बुद्धिमत्ता तथा सहनशीलता जाहिर होती है।

एक समय मिश्र राग की एक चीज का नोटेशन करते समय उस चीज की स्वर रचना में दोनों रागों के उचित अंगों का अभाव होने से उसमें थोड़ा बहुत फर्क करके

उन-उन अंगों की पूर्णता करना श्री गुरुवर्य ने उचित समझ कर अपना विचार प्रगट किया। परन्तु उस समय मैं स्वयं अपनी प्रणाली का अभिमानी व श्री गुरुवर्य की योग्यता के विषय में पूर्णतः अज्ञानी होने से पर्याप्त चर्चा हो जाने पर भी उनसे सहमत न हो सका। अन्त में श्री गुरुवर्य ने मुझे अपना एक शिशु समझ कर मेरा ही हठ पूर्ण किया। समुद्र की भाँति अपनी गम्भीर शांतता प्रगट करते हुए भविष्य में मेरा अज्ञान दूर हो जाने का विश्वास देकर मुझे आनन्दित किया। इससे हमारे गुरुवर्य कितने निरभिमानी थे, यह स्पष्ट होता है।

विद्वान् पुरुषों के अधिकार व गांभीर्य का ज्ञान उनके दीर्घ सहवास से ही हो सकता है। क्रमशः श्री गुरुवर्य के अगाध ज्ञान व अधिकार का प्रभाव मुझ पर भी पड़ने लगा तथा मेरा अज्ञान-पटल क्रमशः दूर होता गया। जब श्रीमती स्व० कमलाराजा व हमारे विद्यमान नरेश जार्ज जिवाजीराव महाराज को संगीत का शिक्षण देने का अवसर मुझे मिला था, उसी समय हमारे महाराज के साथ गर्मी की ऋतु में पाँच महीने तक मेरा रहना बंबई में होने से श्रीमान् गुरुवर्य की सेवा में प्रतिदिन मुझे उपस्थित होकर कुछ अप्रसिद्ध रागों का शिक्षण प्राप्त करने का सुयोग मिला। यद्यपि मेरे आयुष्य का बहुत-सा हिस्सा गायन का शिक्षण लेने में ही व्यतीत हुआ था व मैं अच्छा गाता भी था, तथापि प्रत्यक्ष तालीम लेते समय श्री गुरुवर्य के गले का व गायकी का अनुकरण मुझसे लेशमात्र भी न हो सका। केवल उनकी कृपा से ही मेरा कार्य भाग उस समय यशस्वी हो गया। श्री गुरुवर्य संगीत के केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं थे, वे एक अद्वितीय गायक भी थे। ऐसा मैं अपने अनुभवों से स्पष्ट कह सकता हूँ। गायक का व्यवसाय न करने के कारण वे स्वयं गायक नहीं थे, केवल संगीत के शास्त्रज्ञ पंडित थे, ऐसी अभी भी जनता की भ्रामक कल्पना है। परन्तु उन्होंने संगीत के विषय पर जो पुस्तकें प्रकाशित की हैं, उनमें हर एक राग का पूर्ण विवेचन व स्पष्टीकरण जो उन्होंने किया है; वह पढ़ने से सिद्ध हो जाता है कि ग्रंथकर्ता स्वयं एक अत्यंत अनुभवी तथा अद्वितीय गायक भी थे।

श्री गुरुवर्य के सहवास से भविष्य में मेरा अज्ञान नष्ट होने का जो उनको विश्वास था, उसकी जाँच समय-सयय पर वे युक्तिवाद से करते रहते थे। उदाहरणार्थ हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की क्रमिक पुस्तकों के पुनर्मुद्रण के अवसर पर इन पुस्तकों में जो ग्वालियर की चीजें समाविष्ट हैं, उनमें से जिन-जिन चीजों की स्वर-लिपि में मेरी प्रणाली के अनुसार सुधार होना आवश्यक समझा जाता हो वह करके उनके कागज (ड्राफ्ट्स) भेजने के लिये वे हर समय मुझे सूचित करते थे और मैं भी वह कार्य बड़ी उम्मीद से करके श्री गुरुवर्य की सेवा में समय-समय पर भेजता था। वे भी इन कागजों की संपूर्ण जाँच कर उन्हें योग्य समझने पर पुनर्मुद्रण में सुधार कर देते थे। मेरा यह उत्साह बढ़ाने के हेतु से उन चीजों के "विकटरूप" भी हर पुस्तक में रखना उन्होंने स्वीकार कर लिया था। इस तरह क्रम चलते हुए तीसरी क्रमिक पुस्तक का पुनर्मुद्रण होने के अवसर पर प्रणाली के सम्बन्ध की मेरी अंध श्रद्धा का पटल पूर्णता से निवारण करने के उद्देश्य से श्री गुरुवर्य ने फिर वैसी ही आज्ञा प्रदान की। दीर्घ काल श्री गुरुवर्य के सहवास से यद्यपि मेरे अज्ञान का बहुत-सा हिस्सा दूर हो गया था, तथापि थोड़ा-सा अज्ञान शेष रह जाने से इस समय भी अभिमान से वही कार्य करने का धैर्य लेकर श्री

गुरुवर्य की सेवा में कागजात (ड्राफ्ट्स) भेजने की फिर चेष्टा की। परन्तु उन्होंने इनका भी पूर्ण निरीक्षण करके पुनर्मुद्रण का कार्य कुछ समय के लिये रोक दिया। जब सुयोग से मेरा बंबई जाना हुआ, तब मैंने श्री गुरुवर्य की सेवा में उपस्थित होकर अपनी कृति का परिणाम-फल जानने की इच्छा प्रदर्शित की। थोड़ा-सा समय जाने पर प्रणाली में अपभ्रंश से व विचार के अभाव से जो कुछ त्रुटियाँ थीं, उनका वर्णन गुरुवर्य ने युक्तिवाद से विस्तारपूर्वक किया। मेरा समाधान हो रहा है अथवा नहीं, इस बावत अपनी कुशाग्र बुद्धि से जाँच-पड़ताल करते रहे। ग्वालियर की चीजों में स्वर, शब्द-रचना एवं भाव की दृष्टि से जो सुधार बहुत ही विचार पूर्वक करके उन्होंने मुद्रित कराया था, वे चीजें उसी अर्थभाव से स्वयं गाकर बतलाईं। उन्हें सुनकर मेरा शरीर रोमांचित हुआ। जब उन्होंने पूछा कि "भैया, अब इसमें सुधार होना तुम्हारी दृष्टि से आवश्यक है क्या ?" तब संगीत विद्या में श्री गुरुवर्य के अद्वितीय अधिकार का प्रभाव मुझ पर पूर्णता से पड़ने की वजह से मेरा मन अत्यन्त सन्तुष्ट होकर मुझे यही प्रार्थना करनी पड़ी कि "आपकी तरह इन चीजों का गायन यदि किया गया तो आपने उन्हें जैसा मुद्रित किया है वैसे ही वे अवश्य होनी चाहिये।" मेरे मुख से नम्रतापूर्वक उत्तर सुनकर मेरा अज्ञान-पटल दूर होने के बाबत श्री गुरुवर्य को अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्होंने ममतापूर्वक अपना दक्षिण कर मेरी पीठ पर रखते हुए कहा कि "भैया, अब तुम्हारा मन पूर्ण सुसंस्कृत हो गया है और मेरी भी चिन्ता दूर हो गई है।" इस तरह मेरे हठवाद पर अपने अधिकार का प्रभाव बुद्धिवाद से, न कि दुराग्रह से, मुझ पर समय-समय पर डालकर मुझे सुसंस्कृत करने का श्रेय श्री गुरुवर्य ने प्राप्त किया। इसलिये उनके ऋण से मैं मुक्त नहीं हो सकता हूँ।

—आकाशवाणी, लखनऊ के सौजन्य से

# बड़े से बड़ा वेतन भी उन्हें आदर्शों से च्युत न कर सका

स्व० आचार्य भास्करराव रामचन्द्र
खांडेपारकर, उज्जयनी

स्व० श्री विष्णु नारायण भातखंडे साहब का नाम आज प्रायः सभी को सुपरिचित है। इस पवित्र आत्मा ने संसार में जन्म लेकर जो भी काम किया, वह सभी आबाल-वृद्ध को विदित है। पंडित भातखंडे साहब लगभग सभी शहरों में विभिन्न अवसरों पर जाते-आते रहते थे। बड़े गौरव का विषय है कि हमारे इस ग्वालियर नगर में भी ऐसे ही एक प्रसंग पर वे आये थे। ग्वालियर में उनका पदार्पण कैसे हुआ, इस विषय पर यहाँ कुछ विचार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

सन् १९१६ में गोवा प्रान्त के भ्रमण के अवसर पर वहाँ ग्रन्थालय में हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति नामक ग्रन्थ का प्रथम भाग मेरे देखने में आया। लेखक का नाम था पंडित विष्णु शर्मा। ग्रंथ साद्यन्त पढ़ने पर प्रतीत हुआ कि यह ग्रन्थ लिखनेवाला व्यक्ति संगीत-शास्त्र में तथा गायनवादन में बहुत ही प्रवीण होना चाहिए। अधिक पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि ये सज्जन बम्बई में बालकेश्वर के रहनेवाले हैं। बी० ए० एल० एल० बी हाईकोर्ट वकील भी हैं और उनका नाम श्री विष्णु नारायण भातखंडे है। तदुपरांत मैं उनसे भेंट करने गया और उन्होंने अत्यन्त आदरपूर्वक अपने यहाँ पाँच-छः दिन तक मुझे रख लिया। मेरी गुरुपरम्परा एवं ग्वालियर की अन्य जानकारी मुझसे प्राप्त कर ली। चार-पाँच दिन तक सुबह-शाम मैंने सीखे हुए सभी राग तंबुरे पर सुन लिये।

उन्हें मेरे गाने की तालीम बहुत पसंद आई और मेरी तालीम की चौपड़ी अपने पास रख ली। ग्वालियर में आना उनका अभी तक संभव नहीं हुआ था। अतः मैंने उन्हें वहाँ आने का निमन्त्रण दिया। मेरी गुरुपरम्परा के स्वजनों का एवं अन्य गुणिजनों का गायनवादन सुनकर ग्वालियर में अपनी पद्धति का एक संगीत विद्यालय स्थापित करने की उनकी इच्छा का मैंने अनुमोदन किया। अन्त में पुनः एक बार ग्वालियर में आने का निमन्त्रण देकर मैं वापस चला आया। यहीं से उनका और मेरा ऋणानुबन्ध स्थापित हो गया। मेरे वापस आ जाने के पश्चात् उन्होंने मेरी नोटबुक लौटा दी तथा दो माह के लिये मुझे आग्रहपूर्वक पुनः बुला लिया। उनके घर में मेरे इस दो माह के वास्तव्य में सीखे हुए सभी रागों में जितनी भी चीजें मुझे ज्ञात थीं, मैंने उन्हें अपनी तालीम के अनुसार गाकर नोटेशन सहित लिखवा दीं। इस बार भी ग्वालियर में पधारने की पुनः प्रार्थना की। उनकी सभी व्यवस्था भली प्रकार करूँगा, ऐसी उत्सु-

कता दर्शायी तथा ऐसा भी कहा कि मैं ग्वालियर की परम्परा का विद्यार्थी होने के कारण मेरी नोटेशन सहित दो हुई चीजों की पड़ताल वहाँ के गुरुजनों से करवा कर यदि अन्य पाठान्तर प्राप्त हो सके तो उसे भी संग्रहीत किया जाय। ग्वालियर में संगीत शाला की स्थापना के विषय में श्रीमन्त सरकार से भेंट करना इत्यादि बातों पर भी विचार किया जा सकेगा। मेरे वार्तालाप से एवं व्यवहार से वे संतुष्ट हुए तथा 'अवश्य आऊंगा' ऐसा मुझे आश्वासन दिया। बाद में मैं पुनः ग्वालियर चला आया।

तदुपरान्त मार्च १९१७ (सम्वत् १९७४) में प्रथम मुझे सूचना देकर वे मेरे घर पधारे। उनकी बैठक के लिये टाउनहाल के पास ही २५) माहवार का एक मकान किराये पर ले लिया और वहीं उनके निवास की व्यवस्था भी कर दी। इन्हीं दिनों में कै० श्रीमन्त दौलतराव महाराज की छत्री में एक उत्सव प्रारम्भ हो जाने से बहुत से लोगों के गायनवादन के श्रवण का संयोग अनायास ही प्राप्त हो गया। बाद में मैंने सभी प्रसिद्ध लोगों के गायन उन्हें सुनवाकर उनका परिचय भी करा दिया। यहाँ के प्रसिद्ध गायकों में उस समय बालासाहब गुरुजी थे। इनका भी घनिष्ट परिचय पंडित भातखण्डे साहब से करा दिया।

जिस समय इन दोनों की परस्पर भेंट हुई, संगीत के श्रुतिशास्त्र पर एवं प्रत्यक्ष गायनवादन पर दोनों का सम्भाषण और चर्चा बहुत देर तक होती रही। अन्त में उनकी विद्वत्ता पर आश्चर्य प्रगट करते हुए बालासाहब गुरुजी के मन में उनके प्रति आदर उत्पन्न हुआ तथा बाद में दो जलसों में अपना प्रत्यक्ष गायन भी उन्हें सुनाया। तदुपरांत स्व० शंकरराव पंडित तथा गणपतराव से पंडितजी की भेंट हुई। उस समय शंकरराव बहुत अस्वस्थ थे। "मुझे शास्त्र आदि कुछ नहीं आता। मेरे गले में जो कुछ है उसे आप सुन सकते हैं। परन्तु इस समय मैं बहुत बीमार होने के कारण अपना सभी काम आपको सुनाने में असमर्थ हूं"—ऐसा पंडित भातखंडे साहब से कहते हुए बीमार अवस्था में भी कुछ अस्ताइयाँ, कुछ तानें, मुरकियाँ मुलायम आवाज से सुनाईं।

इन्हीं दिनों में ग्वालियर में कोई बड़ा अंग्रेज अधिकारी मेहमान आ जाने के कारण श्रीमन्त सरकार से मुलाकात का अवसर प्राप्त न हो सका। तथापि भातखंडे जी के पधारने का सभी वृत्तान्त कै० श्रीमन्त बलवन्तराव भैया साहब को मैंने विदित कराया। भातखंडे साहब के लिये तुरंत मोटर भेजी जाकर हम दोनों बलवन्तराव भैया साहब के यहाँ गये और संगीत विषय पर बहुत समय तक सम्भाषण होता रहा। सरदार साहब के मन में उनके प्रति आदरभाव जागृत हुआ और कहने लगे कि "आप के आने का वृत्तांत मैं श्रीमन्त महाराज साहब के कान तक अवश्य पहुँचाऊंगा"। इस प्रकार भातखंडे साहब का मुकाम ग्वालियर में एक माह तक रहा। बाद में वे बम्बई चले गए। जाते समय मुझे सहकुटुम्ब बम्बई में आकर रहने के लिये आग्रह किया। कुछ ही दिनों में मैं भी सपरिवार बम्बई पहुँचकर बालकेश्वर के उनके घर में रहने लगा। प्रति दिन सुबह-शाम मैं उनके पास बैठकर अभ्यास करता था। उनके विद्यालय में शिक्षक भी हो गया। सिखाने का कौशल्य मैंने उन्हीं की कृपा से प्राप्त किया।

इधर ग्वालियर में मेहमानों से निवृत्त होते ही बलवन्तराव भैया साहब ने भातखंडे साहब की सारी बातें श्रीमन्त सरकार को सुनाईं तथा ग्वालियर में एक संगीत शाला स्थापित करने का भातखंडे जी का उद्देश्य सरकार को सुनाया। श्रीमन्त सरकार ने भी ऐसे काम में अपनी सहानुभूति प्रगट की। पश्चात् सन् १९१७ के अगस्त माह में श्रीमन्त सरकार जब बम्बई पधारे, भातखंडे साहब की बातें ध्यान में रखकर उन्हें भेंट के लिये बुला लिया। साथ ही ग्वालियर में संगीत शाला स्थापन करने का अपना विचार भातखंडे साहब को बता कर बम्बई के उनके विद्यालय को भेंट देने की इच्छा प्रदर्शित की।

उसी दिन विद्यालय को श्रीमन्त सरकार ने भेंट दी तथा विद्यार्थियों का सभी कार्य देखकर अतिशय संतोष व्यक्त किया। जहाँ तक बन सके ग्वालियर में शाला स्थापन करने का काम शीघ्र ही प्रारम्भ करने की सूचना पंडित भातखंडे साहब को दी। साथ ही साथ यह भी कहा कि ग्वालियर में पधारने बाबत बाद में तार द्वारा सूचित करूंगा। पोलिटिकल मेम्बर श्री कैलाशनारायण भी श्रीमन्त महाराज के साथ उस समय उपस्थित थे। पंडित भातखंडे साहब के साथ मैं भी वहीं पर था। मेरे बारे में सब जानकारी श्रीमन्त महाराज ने भातखंडे साहब से पूछ ली। ग्वालियर में विद्यालय की स्थापना होने के समय मुझे वहाँ पर शिक्षक नियुक्त करने की श्रीमन्त महाराज की आज्ञा हो चुकी है, ऐसा पं० भातखंडे जी ने मुझे बाद में बताया। स्वयं श्रीमन्त महाराज की आज्ञानुसार में इस राज्य में नौकर हुआ यह मेरा परम सौभाग्य है।

थोड़े ही दिनों बाद गणेश चतुर्थी के दिन पं० भातखंडे जी के पास आया हुआ श्रीमन्त सरकार का तार उन्होंने मुझको दिखाया। उसके अनुसार हम दोनों ने शिवपुरी जाने का निश्चय किया व दूसरे ही दिन हम दोनों बम्बई से चल दिये। विचार तो किया था प्रथमतः ग्वालियर को जाने का। परन्तु झाँसी स्टेशन पर ग्वालियर सरकार की ओर से भेजे हुए दो सज्जन हमारी पूछताछ करते हुए गाड़ी तक आ गये। हमें यहीं पर उतार लिया गया। एक मोटर में बैठकर दूसरी में सब सामान रखते हुए झाँसी से हम लोग शिवपुरी महल के गेस्ट हाउस में पहुंच गये। भोजनोपरान्त रात्रि ८ बजे महाराज से भेंट करने के लिये महल में गये, जहाँ पर अखंड भजन सप्ताह चल रहा था। कुछ देर तक महाराज के भजन इत्यादि सुनते रहे। भजन शेष हो जाने पर श्रीमन्त सरकार से भेंट हुई। उस दिन कुशल प्रश्नोत्तर के बाद हम लोग अपने निवास पर पुनः आ गये। शिवपुरी में हम लोग १५ दिन तक थे, जहाँ पर गायन के जल्से सुने तथा स्व० केशवराव भोंसले के नाटक देखे। हमारे इस प्रवास में एक-दो दिन के उपरांत ग्वालियर में संगीत शाला स्थापित करने के विषय में चर्चा शुरू हुई। कुछ अधिकारियों को बुलाकर हमारे निवास पर ही इस कमेटी का कामकाज प्रारंभ हुआ। स्वयं श्रीमन्त सरकार कमेटी का कार्य सम्पूर्ण होने तक मौजूद थे। कमेटी में आर्मी मेम्बर श्री राजवाड़े, डा० बागड़े, डा० नाडकर्णी, मुकुन्दराव खाँडेकर, शिक्षा विभाग के डायरेक्टर श्री परचुरे, कैलाशनारायण हक्सर तथा पं० भातखण्डे साहब थे। इनके अतिरिक्त जो तीन-चार सज्जन और उपस्थित थे, उनके नाम अब मुझे याद नहीं हैं।

कमेटी का कार्य प्रारम्भ होने पर आमी मेम्बर साहब ने प्रथम प्रस्ताव में ही यह विद्यालय एज्युकेशन डिपार्टमेंट को देने का सुझाव रखा, जिसे श्रीमन्त सरकार ने भी मंजूर किया। दूसरा प्रस्ताव स्वयं श्रीमन्त सरकार ने रखते हुए कहा कि, विद्यालय के लिए शिक्षक वर्ग बम्बई से ही बुलाया जाय। परन्तु भातखंडे साहब ने श्रीमन्त सरकार को बार-बार यही समझाया कि, ग्वालियर संगीत की नगरी है। यहाँ के गायकों को जिस प्रकार परिपक्व शिक्षा मिली है, वैसी अन्य स्थान के गायकों में मिलना कठिन है। क्योंकि यहाँ के राजदरबार में हद्दु हस्सू खाँ जैसे बड़े-बड़े गायक हो चुके हैं। अतः ग्वालियर के ही शिक्षक रखना योग्य होगा। श्रीमन्त सरकार ने भी उनका कहना मान लिया। सम्भवतः यह भी एक अन्य कारण होगा कि बाहर के शिक्षक बुलाने पर स्थानीय लोगों का हमेशा विरोध होता रहेगा। विद्यालय सुचारु रूप से चलना स्थानीय समाज पर अवलम्बित होता है। इसके बाद कमेटी में जो चर्चा हुई, उसमें ग्वालियर के कितने और कौन-कौन से शिक्षक विद्यालय में रखना चाहिए, इस पर विचार होकर फिलहाल केवल छः शिक्षक पर्याप्त हैं; ऐसा निश्चित हुआ। उनमें से एक मैं भी था, जैसा कि बम्बई में पं० भातखंडे साहब एवं श्रीमन्त सरकार के बीच पूर्व में ही ठीक हो चुका था। और किन शिक्षकों के नाम सुझाये जायँ ऐसा पं० भातखंडे साहब ने मुझसे पूछा था। जिनके विषय में मुझे पूर्ण जानकारी एवं विश्वास था, उनके नाम मैंने प्रस्तावित किये; जो इस प्रकार थे—सर्व श्री कृष्णराव पंडित, कृष्णराव दाते, राजाभैया पूछवाले, बलवन्तराव भजनी तथा विष्णुबुआ। इनमें से बलवन्तराव भजनी और विष्णुबुआ प्रिवीपर्स में पहले से ही नौकर थे। अतः उनके नाम पंडित भातखंडे साहब ने प्रारम्भ में ही लिख लिये थे। उस समय प्रिंसिपल राजाभैया का नाम समाविष्ट नहीं किया था। कारण वे श्रीमन्त सरकार के भजनों में प्रतिवर्ष हारमोनियम बजाते थे। अतः एक संगतकार के रूप में ही समझे जाते थे। इस प्रकार कमेटी बनाकर श्री परचुरे साहब को शाला का सेक्रेटरी नियुक्त किया गया। पंडित भातखंडे साहब को ६००) प्रतिमाह वेतन तथा निवास के लिये बंगला देने के विषय में श्रीमन्त सरकार ने अपनी इच्छा प्रदर्शित की। परन्तु इनका उन्होंने इन्कार करते हुए श्रीमन्त सरकार से प्रार्थना की कि, "वृद्धावस्था में अब मुझसे नौकरी करना सम्भव न होगा। इसके अतिरिक्त मेरे पीछे कुटुम्बपालन का कुछ भी खर्च नहीं है। मेरे अकेले के लिये बैंक से प्रतिमाह १००) मिलता है जो मुझे पर्याप्त है। विद्यालय की परीक्षा हेतु वर्ष में दो बार सरकारी खर्चे से एक गेस्ट के रूप में आता रहूँगा।" श्रीमन्त सरकार ने उनकी इच्छा स्वीकार कर विद्यालय के लिए बजट कायम कर दिया। कमेटी का कार्य शेष होने पर श्रीमन्त सरकार ने पंडित भातखंडे साहब को एक पगड़ी और दुशाला भेंट स्वरूप प्रदान किया। तदुपरान्त हम दोनों बंबई के लिये रवाना हो गये।

कुछ समय बाद शिक्षकों को ट्रेनिंग प्राप्त करने हेतु भातखंडे साहब के पास बम्बई भेजा गया। विद्यालय स्थापन होने तक प्रत्येक को ३०) माहवार शिष्यवृत्ति दी जाती थी। श्री कृष्णराव पंडित ने विद्यालय में शिक्षक होना स्वीकार नहीं किया। अतः उनके स्थान पर किसी अन्य विश्वासपात्र व्यक्ति का नाम सुझाने बाबत भातखंडे

साहब ने मुझसे पूछा। मैंने पुनः श्री राजाभया के विषय में विश्वास प्रगट करते हुए कहा कि वे बहुत परिश्रमी होने के कारण उनके हाथ से कार्य अच्छा ही होगा। राजाभैया का व मेरा अनेक वर्षों का सहवास था। हम दोनों ख्याल व ध्रुवपद में एक ही खानदान के शागिर्द थे। भातखण्डे साहब को मेरी सलाह अच्छी प्रतीत हुई व उन्होंने राजाभैया को तुरन्त भेज देने बाबत श्रीमन्त सरकार को लिखा। उस समय राजाभैया विषमज्वर से पीड़ित थे। फिर भी कुछ दिन तक औषधि पथ्य लेकर स्वस्थ होते ही वे बम्बई में उपस्थित हो गए। ढाई-तीन माह तक शिक्षकों को प्रशिक्षण देने के उपरांत पंडित भातखंडे साहब ने विद्यालय स्थापित करने के लिए उन्हें ग्वालियर वापस भेज दिया।

इसी समय बड़ौदा सरकार से भी चार शिक्षक प्रशिक्षण के लिये भातखंडे साहब के पास आये हुए थे।

जनवरी सन् १९१८ में माधव संगीत विद्यालय की स्थापना पंडित भातखंडे साहब के कर कमलों द्वारा कम्पूकोठी में की गई। कम्पूकोठी एकान्त स्थल में होने से विद्यार्थियों की कठिनाई दूर करने के लिए सेक्रेटरी साहब ने उसे गोरखी महाराजबाड़ा हाईस्कूल में स्थानांतरित किया। उस समय विद्यालय की पाठ्य-पुस्तकें छपकर तैयार नहीं थीं। अतः बहुत कठिनाई होती थी। मेरी प्रामाणिकता, शाला की उन्नति के लिए अविश्रान्त परिश्रम करने की तैयारी देखकर तथा मुझपर उनका अत्यन्त प्रेम होने के कारण कोई भी छोटी-बड़ी बात मुझसे छिपाते नहीं थे। स्वयं पं० भातखंडे साहब भी विद्यालय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अड़चन दूर करने के लिये तत्पर रहते थे। मुझे तो वे अपना सहकारी ही समझते थे। अतः मेरे लिये किसी प्रकार की वेतनवृद्धि, प्रमोशन तथा मानप्रतिष्ठा के विषय में उन्होंने कोई योजना नहीं की। मुझे भी इन बातों की कोई लालसा नहीं थी व आज भी नहीं है। अस्तु।

विद्यालय में निश्चित् पाठ्यक्रम की कठिनाई पड़ती थी। अतः पाठ्यक्रम तैयार करने के लिये सरकारी खर्च से तीन शिक्षकों की मंजूरी पं० भातखंडे साहब ने प्राप्त कर हरिद्वार में अहिल्याबाई की धर्मशाला में महिना-सवा-महिना मुकाम किया। यहाँ पर क्रमिक चौथी पुस्तक के गीत मात्रा-विभाग में बाँधकर छाप लिये गये। इन तीन शिक्षकों में ख्याल गाने वाले सर्वश्री राजाभैया, स्वयं मैं तथा कृष्णराव दाते थे। क्रमिक पुस्तक का काम निपट जाने पर क्रमिक दूसरी व तीसरी पुस्तक में जो चीजें नोटेशन एवं मात्रा-विभाग के अभाव में छापने को अभी तक रह गई थीं, उन्हें तैयार करने के लिये वेकेशन के समय पर मैं व राजाभैया बंबई के लिये रवाना हो गये। पं० भातखंडे साहब के मालाड स्थित निवास पर हम तीनों एक माह के लिये एकत्रित हुये थे, जहाँ पर यह काम पूर्ण किया गया। हमारे साथ नारायण गुणे विद्यार्थी के रूप में वहाँ पर थे। इसी प्रसंग पर पं० भातखंडे साहब ने मुझे व राजाभैया को, जो एक ही घराने के ख्यालगायक थे विद्यालय में छात्रों को सुनियोजित गायकी की तालीम देने के लिये तान-आलाप तैयार करने के विषय में आज्ञा दी। राजाभैया व मैं दोनों ने कुछ दिन तक नियमित रूप से बैठ कर लगभग ४०-४२ रागों की तीन कापियाँ बनाईं, जिसमें से एक मेरे पास, दूसरी

राजाभैया के पास व तीसरी भातखंडे साहब के पास रखी गई। यही दूसरी व तीसरी पुस्तक की गायकी राजाभैया ने कुछ ही दिनों पूर्व स्वयं प्रकाशित की।

वर्ष में दो बार छमाही तथा वार्षिक परीक्षा के लिये पंडित भातखंडे साहब स्वयं पधारते थे व परीक्षा भी स्वयं ही लेते थे। श्री परचुरे साहब की मृत्यु हो जाने पर सेक्रेटरी के उनके पद पर रावसाहब अंबर्डेकर आये। विद्यालय का साप्ताहिक निरीक्षण करने के लिये प्रोफेसर बाजपेई तथा कविवर श्री भास्करराव तांबे साहब की योजना आफिशियल विजीटर्स के रूप में पंडित भातखंडे साहब ने की थी। प्रोफेसर बाजपेई इधर ५-६ वर्षों से आनरेरी इन्सपेक्टर हुये हैं। सन् १९२९ में राजाभैया को प्रिंसिपल नियुक्त किया गया व विष्णुबुवा सुपरवाइजर हो गये। सन् १९३० में मुझे उज्जैन के संगीत विद्यालय के हेडमास्टर के स्थान पर भेजा गया। वहाँ पर भी बहुत दिन तक उनके पत्र मुझे प्राप्त होते रहे। एक पत्र में वे लिखते हैं कि, "आपकी और मेरी बारह वर्ष की तपश्चर्या से इस विद्यालय का कार्य यहाँ तक पहुंच गया है।" इसके बाद दूसरे पत्र में "लश्कर के विद्यालय का काम निम्नस्तरीय प्रतीत होने पर आपको वापस बुला लेना था। परन्तु उज्जैन के विद्यालय का नुकसान हो जावेगा, अतः आपको उज्जैन में ही रखने का मैंने निश्चित किया है" इत्यादि। इधर ३-४ वर्षों से उनका स्वास्थ्य बहुत ही खराब होने के कारण वे यहाँ पधार न सके। अतः उन्होंने अपना परीक्षा का कार्य श्रीकृष्ण रातांजनकर, प्रिंसिपल, लखनऊ संगीत कालेज को सौंप दिया था। संक्षेप में अपनी आयु का सर्वाधिक समय संगीत की सेवा में ही उन्होंने व्यतीत किया। इन्हीं के प्रत्यनों से संगीत विषय जनता को सुलभ हो गया, जिसके लिये देश की आबाल-वृद्ध जनता उन्हें अन्तःकरण से धन्यवाद दे रही है।

सन् १९३६ में गणेश चतुर्थी को उनका स्वर्गवास हुआ।

हे जगदीश, उनकी पवित्र दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करें।

दिनांक २९-४-३८ —श्री० वा० भा० खाण्डेपारकर से प्राप्त

## वे मेरे उस्ताद थे और परम मित्र भी

स्व० राजा नवाब अली खां, अकबरपुर

प्रचलित संगीत के लिये (जिसकी मौजूदा हालत जिस हद तक पहुंच गई है और जो पेश्तर बयान की जा चुकी है) भी एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी, इस आवश्यकता को चतुर पण्डित ने पूरा किया। जो संगीत कला के अप्रतिम ज्ञाता हैं। उन्होंने जो ग्रन्थ लिखा है उसका नाम "लक्ष्य संगीत" है। हमारे समय में यही एक ऐसा ग्रन्थ है जो संगीत की वर्तमान आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। "लक्ष्य संगीत" संस्कृत भाषा में है, जिसके समझने वाले हमारे मुल्क के हिस्से में बहुत कम हैं। इसलिये अपने उस्ताद और परम प्रिय मित्र पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे साहब बी० ए० एल० एल० बी०, वकील हाईकोर्ट बम्बई की आज्ञा से, मैंने इस पुस्तक को उर्दू में संगीत के सिद्धान्तों पर लिखा है। उपर्युक्त पंडित साहब की अनुपम खोज और अप्रतिम विद्वत्ता का ही नतीजा था जो यह किताब पूरी हुई। अगर कदम-कदम पर वह मदद न करते तो मुझसे इस काम का अन्जाम पाना नामुमकिन था।

—मारिफुन्नगमात, प्रथम भाग, पृष्ठ २७,
हाथरस प्रकाशन से उद्धृत

## सारा देश इनकी कृतियों से व्याप्त है

स्व० पं० फिरोज फ्रामजी, पूना

He who governs the musical treatises well.
Who teaches his subjects, by the self same spell,
Friend of my bosom who is more than a brother,
To him I dedicate, for all knowledge I gather.

India can ever be too grateful to this, my learned friend for the limitless labour, love and imagination he has lavished on the development of Indian Music. He has done a great deal of useful work in stimulating interest in and promoting the study of Indian Music and in the systematization of Hindustani Ragas. He is the author of a number of musical treatises in Sanskrit and Marathi, amongst which Lakshya Sangeet has now been universally acknowledged as an authority on Music of the North. I have drawn very freely from his treatises and owe him a further debt for allowing me to consult him freely for a better practical and theoretical knowledge of Indian Music.

It is a deeply inspiring spectacle for me to see whole India surrounded by his musical treatises, which worldly greatness can present, living from day to day so simple, vivid and musical a life. It is impossible for me to conceive a more fruitful example of my duty and affection towards him, and I dedicate this, my humble discourse to him for all his invaluable co-operation at every musical stages, without which it would not have seen the light of this world.

—इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक, प्रथम भाग से उद्धृत

# पंडित जी से मैंने प्रेरणा पाई

स्व० उस्ताद बुन्दू ख़ाँ

पंडित भातखंडे के मुताल्लिक कहने-लिखने की मेरी क्या लियाक़त है ? उन्होंने एक ऐसा कमाल कर दिखाया है जो आज तक किसी ने नहीं किया। उनके सैकड़ों गाने मुझे आज भी याद हैं और वही मेरे रागों की शकलें हैं। हिन्दुस्तान के हर गाने बजाने वाले को मैंने देखा परखा है। कई लोगों से नई बातें हासिल कीं। इधर कुछ दिनों से अपना भी इल्म सभी के सामने रख देने की इच्छा हो रही है। कई भागों में "रागदर्पण" लिखे हैं। जो जल्दी छपाने का विचार है।

पंडित जी ने संगीत की बड़ी सेवा की। अगर पंडित जी की हस्ती न होती तो आज जो हिंदुस्तानी संगीत घर-घर में गाया बजाया जा रहा है वह न होता। यह उन्हीं की कृपा है कि हम जो शौकीनों के घर के बच्चों को "गुनि गावत काफी राग" का लक्षण सुन रहे हैं। नहीं तो गाना-बजाना पहले सिर्फ पुश्तैनी घरानेदार उस्ताद ही का काम था। जब पंडित जी को यह मालूम हुआ कि मैं गाने-बजाने को सीखने में उम्र गुजार रहा हूँ तो बहुत खुश हुए और फ़र्माया कि मैंने भी अपनी ज़िन्दगी इसी को सीखने और हासिल करने में गुज़ारी है। यह कालेज पंडित जी की कोशिशों का नतीजा है। मैं जब इस कालेज के प्रिंसिपल साहब (डा० श्री० ना० रातांजनेकर) को देखता हूँ तो मुझे पंडित जी याद आते हैं। ईश्वर इस संस्था को बढ़ाये और यहाँ के तालिब-इल्म यहाँ से निकलकर इसी संगीत को ऊँचा उठायें, जिस पर पंडित जी ने अपना सब कुर्बान कर दिया था।

भातखंडे कॉलेज ऑफ हिंदुस्तानी म्यूज़िक, लखनऊ में सन् १९४० के भातखंडे स्मृति समारोह में दिये हुए भाषण से उद्धृत—सम्पादक

# विशिष्टानाम् विशिष्टेषु संगमो गुणवान् भवेत्

स्व० श्री सदाशिव गोपाल परचुरे, सेक्रेटरी
म्यूजिक कमेटी, ग्वालियर

जयतु जयतु देवो माधवो माधवांशो ।
जयतु गुणि जनानां भातखण्डेऽवतंसः ॥
जयतु च गुणिमान्यो गीत शास्त्रानुरागी ।
कुल गुरु रघिदेवो गायतां तानसेनः ॥

MUSIC is not a mere diversion. It contributes to the health of the body, it invigorates and refreshes the mind, and it elevates and uplifts the soul. Orpheus, the Greek musician, had the power of moving inanimate bodies by the music of his lyre. The ancients believed in the "music of the spheres" the harmony produced by the accordant movements of the celestial orbs. Our Yoga Shastra speaks of the अनाहत ध्वनि or "unbeaten sound" heard by the Yogi in his contemplation. History thus proves that man is not unaware of the utility of music as a value to the restless soul and a panacea for all bodily and mental ailments.

The Hindu Mythology abounds in references to music. Our paradise is a place which promises eternal enjoyment of music. The great God Shiva is represented as an ideal lover of dancing. Vishnu, the deity of political wisdom, is, on one occasion, said to have assumed the form of a bewitching female and thrown his enemy into ecstatic raptures by his dancing and music. Narad and Tumbaru, the ideal devotees of God, are said to be singing their prayers eternally in concert with a string instrument. The Goddess of learning Saraswati, is painted as playing on the Veena. Music plays an important part in all religious and social functions of the Hindus. In India music is the daily food of every man whether he be a prince or a peasant.

Gwalior is a land of music. The great "Tansen", the father of Indian music, lived and died here. His tomb is still standing at the foot of the fortress near a tamarind tree, the leaves of which are supposed by music loving people to possess the property of making the voice musical. One fails to see why the Goddess of music should love Gwa-

lior more than any other part of India. But it is a stern reality and none can deny it. To our mind the plant of music does not derive its nourishment from the soil of Gwalior but from its Rulers. The great Patil Baba, the founder of Scindia's Gadi was a poet, a singer, and a saint. His successors, Daulat Rao, Jankoji and Jayaji were all great patrons of music. The present Ruler of Gwalior is a gifted singer. His love of music is too well-known to require any mention here. Thousands of his loyal subjects who attend the annual Ganpati festival can bear testimony to his wonderful musical powers. He loves and appreciates music and derives the fullest benefit from the useful means of diversion. Whenever he wants respite from his laborious work of administration, he seeks it in music. The Maharaja has not studied this art under any expert. Like his Gadi he has inherited it from his noble father (of happy memory) who was a great patron of music and himself a master of the art. Gwalior has thus been a home of music for over a century since the time of Daulat Rao. No wonder that the best musicians in the North of India owe their excellence in this art to a direct training under a Gwalior musician or one belonging to the Gwaliar school of music.

Among the many notable attempts of H. H. the Maharaja Scindia for the revival of ancient Indian arts and sciences "THE MADHAV MUSIC SCHOOL" is the most important. His Highness's versatility of talent, his refined taste, his simplicity of dress and manner, his proclivity to the study of human nature. and his social qualities naturally bring him into contact with all classes and grades of people, and especially with persons proficient in any arts or sciences. Unlike men in his exalted position, he is accessible to all owing to his sociableness.

It was a lucky chance for Gwalior that His Highness happened to meet Prof. Bhatkhande in Bombay and was struck by his noble personality, his labour and his love for the advancement of the cause of Indian music. This happy meeting of these two extraordinary personages led to the foundation of a Music School in Gwalior on January 1, 1918, for as Bhavabhuti most appropriately observes :—

विशिष्टानां विशिष्टेषु संगमो गुणवान् भवेत् ।।

(The meeting of two distinguished persons leads to a happy result.)

It will not be out of place here to say a word about Prof. Bhatkhande. The public know. him as the author of the great work on music--Hindustani Sangit Paddhati in 4 vols. But this is the least of his recommendations. The secret of his fame and success lies in his sin

cere devotion to music, his disinterested endeavours to haul up ancient Indian Music from the obscurity in which it lay for centuries under the Mohamedan Rule. The antiquity of Indian music can be traced to the date of "Samveda" which antiquarians fix at 6 thousand or any multiple of 6,000 years. What a pity it is that the notes and tunes recognised by the ancient writers on music should have been twisted and distorted by foreign singers, and that this foreign style should have been recognized on all hands as the standard Music of India. The Southern School of Music has still retained its scientific purity but it lacks the charm which the Mohomedan art has imparted to it. The notes in Southern music are pleasant to hear owing to their purity but they do not flow in a continuous dyer, like the music of the North. Prof. Bhatkhande after a study of 40 years in instrumental and vocal music conceived the idea of combining the two systems into a new system which can display both the purity of the South and the artistic beauty of the North With a view to develop and practically carry out the idea, he travelled through all the parts of India, consulted the singers of note in all important centres of music, collected a mass of literature on the subject and then published a system and notation of his own by which a trained teacher can impart to an intelligent pupil as much knowledge of music in three years as the old veteran singers did in 10 years by the empirical method. This is no empty compliment but a hard fact and the Gwalior Music School is the proof of it. The Madhav Music School has about 100 boys on the roll with an average attendance of 75. This is the third year of its existence. The third year class consists of about 20 boys who have finished 40 Ragas and 6 Tals. Out of these 40 Ragas, they can sing 6 with Behalaves and Tans, and can further in the course of singing convert the Tans into Sargams or a succession of notes so modulated as to make up a particular Raga or tune. This they can do spontaneously and extempore, thus proving that they are thoroughly conversant with the theory of each Raga. This knowledge of the theory of Ragas is the chief distinguishing feature of Prof. Bhatkhande's new system, so close is the boy's acquaintance with the fundamental notes both sharp and flat that he can at this early stage detect a wrong note in the performance of the best empirical singer. In about two more years this band of boy-singers will be a terror to the old bigotted musicians who hold that whatever tune they produce must be correct and that they are bound by no laws. If the Gwalior Music School under the supervision and guidance of Prof. Bhatkhande and the generous patronage of His Highness the Maharaja can produce only half a dozen young champions of music

every year, it will have done great service to the cause of music and to the country. This young plant of music is full of hope and promise. It will soon grow into a flourishing tree and bear rich fruit. It will spread out its branches to other parts of India and create a taste for scientific music which laymen at present condemn as dry, uninteresting, and even irksome. When the popular taste will be refined, music will command universal appreciation and find a place in the curriculum of every University in India. This is Prof. Bhatkhande's ideal and this, when realized, will be the triumph of his new system and the Maharaja's munificence.

—जयाजी प्रताप, सन् १९२० से उद्धृत

# ग्वालियर के संगीत का उत्थान किया

स्व० रावसाहब गो० वि० अंबडेकर,
सेक्रेटरी, ग्वालियर

राज्य ग्वालियर, जिसकी कीर्ति अति प्राचीन काल से संगीत-भूमि के नाम से प्रसिद्ध है। जहाँ कई प्रसिद्ध संगीत-गायक आज तक हो गये, वहाँ अर्वाचीन पद्धति से उसी कला को कायम रखने के लिये विशिष्ट स्कूल खोलने की कल्पना, कैलाशवासी श्रीमन्त महाराज को प्रथमतः प्रोफेसर भातखंडे साहब ने सन् १९१७ ई० के गणपति-उत्सव के अवसर पर दी। यह कल्पना पसंद आयी और कैलाशवासी महाराज साहब ने यहाँ से सात गायकों को प्रोफेसर साहब की पद्धति समझ लेने की गरज से बम्बई में प्रोफेसर साहब के पास भेजा। उक्त गायकों ने वहाँ तीन महीने रहकर प्रोफेसर साहब की पद्धति सीख ली, और वापस आने पर सन् १९१८ ई० के जनवरी महीने में इस स्कूल की स्थापना हुई। अव्वल पाँच वर्ष तक स्कूल की दशा प्रारम्भिक थी, क्योंकि कोर्स की किताबें लिखने का काम जारी था। इसके बाद के सात साल में यहाँ का कोर्स पूर्ण करके ग्रेजुएटस तैयार होने लगे और आजकल तो इस संस्था की कीर्ति कुल हिन्दुस्तान भर में फैल रही है।

दस वर्ष के पहिले बहुत से सज्जनों को यह शंका थी कि हिन्दुस्तानी गायन पद्धति किताबों के द्वारा आधुनिक पद्धति से पाठशालाओं में सिखाई जा सकेगी या नहीं? ग्वालियर विद्यालय ने इस विषय में जो कार्य करके प्रत्यक्ष दिखलाया है उससे इस शंका का पूर्ण निरसन हो गया है और सिद्ध हो चुका है कि अच्छी तरह से लिखी हुई पुस्तकें व योग्य शिक्षा पाये हुए शिक्षक हों तो आधुनिक पद्धति से हिन्दुस्तानी गायन थोड़े अवकाश में और सरल रीति से पढ़ाया जा सकता है।

प्रोफेसर भातखंडे साहब ने ग्वालियर के ही गवैयों की मदद से स्कूल की कोर्स बुक्स लिखीं, व आज एक तप से इस संस्था का निरीक्षण व पोषण करने में जो स्वार्थ-त्याग दिखाया है उसके लिये आप धन्यवाद के तो पात्र हैं ही, किन्तु यदि मैं यह कहूँ कि आज इस विद्यालय को हिन्दुस्तान भर में जो सर्वमान्यता मिली है उसका अधिकतर श्रेय आपको ही है तो मिथ्या न होगा।

—श्री माधव संगीत विद्यालय, लश्कर के वार्षिक जलसे और
१९३० के उपाधिवितरणोत्सव की रिपोर्ट से उद्धृत

# संगीत कला गरीब-अमीर, सबके लिये सुलभ हो गई

स्व० रावबहादुर ल० भा० मुले,
ग्वालियर

...ऐसी गिरती हुई दशा में कैलाश-भूषण श्रीमन् माधव महाराज ने स्वर्गीय पूज्य भातखंडे साहब के सहयोग से इस संस्था की स्थापना इस उद्देश्य से की कि गायन-विद्या का यथोचित प्रसार हो और शिष्ट समाज में उसके प्रति आस्था व आदर बढ़े। उनके पूर्व राजा-महाराजाओं ने, विशेषतः सिंधिया नरेशों ने, जो स्वयं भी बड़े गायन-प्रेमी व गुणग्राही थे, संगीत को आश्रय दिया था। परन्तु उनके प्रयत्न प्रायः गुणीजनों को व्यक्तिशः उदार आश्रय देने तक ही सीमित रहे। स्वर्गीय श्रीमन् माधव महाराज के प्रयत्नों का विशेष यह है कि उन्होंने इस कला को आदरणीय और उन्नत करने के लिये इस महाविद्यालय को स्थापन करके संगठित रूप से कार्य किया। साथ ही साथ इस कला को प्राप्त करने में जो महान् कष्ट उस समय उठाना पड़ता था तथा समय बरबाद करना पड़ता था, उनको दूर करने के लिये इस महाविद्यालय द्वारा इस कला को प्राप्त करना गरीब-अमीर, स्त्री-पुरुष सबके लिये सुलभ कर दिया।

—माधव संगीत महाविद्यालय की रजत जयंती
महोत्सव में दिये हुए स्वागत-भाषण से उद्धृत

# उत्तर प्रदेश का परम सौभाग्य

राय उमानाथ बली, लखनऊ

स्वर्गीय पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे के विषय में ठाकुर नवाब अली खान तथा अपने अन्य कई मित्रों से लगभग १९१२ से ही मैं बराबर सुनता आ रहा था। परन्तु उनसे प्रत्यक्ष भेंट का सौभाग्य १९१९ में प्राप्त हुआ। उनका प्रथम पत्र सन् १९१६ की प्रथम अखिल भारतीय संगीत परिषद् के प्रतिनिधित्व का शुल्क स्वीकृत होने के विषय में मैंने प्राप्त किया। और यहीं से कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से मेरे जीवन ने एक नया मोड़ लिया। सन् १९१६ की उस परिषद् की चेतना का केन्द्र वे स्वयं ही थे। उनका वह पत्र बहुत ही रोचक था। 'मित्रवर आदरणीय रायसाहब' इस प्रकार से प्रारम्भ करते हुए 'आदरभावों सहित आपका विनम्र' इन शब्दों से पत्र की समाप्ति की थी। सम्भवतः मुझे बहुत वयस्क एवं महान् व्यक्ति वे समझ बैठे थे। संगीत का महत्व, दैनंदिन तथा आध्यात्मिक जीवन में उसकी उपयोगिता, शिक्षा एवं धर्म में उसका मूल्य इत्यादि विषयों पर पत्र में उन्होंने लिखा था। यह मेरा परम दुर्भाग्य है कि इस पत्र के साथ-साथ सन् १९२० से '२७ तक उनसे प्राप्त किये हुए समस्त पत्रादि मेरे रेकार्ड-रूम में आग लग जाने के कारण नष्ट हो गये। अन्य स्थान पर रखे हुए दो-चार पत्र ही अब मेरी संस्मरणों की निधि शेष रह गई है। अपनी यह परमोच्च धरोहर जीवन के अंतिम क्षणों तक पास में ही रखना चाहता हूँ।

दिल्ली में आयोजित द्वितीय अखिल भारतीय संगीत परिषद् में सम्मिलित होने के विषय में सन् १९१८ में उन्होंने मुझे पुनः आग्रह किया। लखनऊ में संगीत विद्यालय की स्थापना की अपनी योजना सहित इस परिषद् में मैंने भाग लिया, परन्तु दुर्भाग्यवश पंडित जी तथा राजा नवाब अली दोनों ने मुझे कुछ भी बोलने न दिया। उस समय स्वयं दिल्ली में ही एक बहुत बड़ा संगीत विद्यालय स्थापित करने की अत्यन्त महत्वाकांक्षी योजना उनके समक्ष थी। फिर भी उक्त परिषद् के अध्यक्ष रामपुर के स्वर्गीय नवाब साहब ने लखनऊ में विद्यालय स्थापित होने पर आर्थिक सहायता देने का मुझे आश्वासन दिया। यह वे दिन थे जब समाज में संगीत का बहिष्कार था तथा संगीतकला के प्रति ब्रिटिश सरकार कुछ भी प्रोत्साहन नहीं देती थी। ऐसी परिस्थिति में पंडित भातखण्डे जी एवं राजा नवाब अली जैसे संगीत के दोनों महान् दिग्गजों की सहानुभूति एवं सहायता के बिना मुझ जैसे अकेले एक व्यक्ति को विद्यालय स्थापित करना नितान्त असंभव था।

सन् १९१९ में बनारस की अखिल भारतीय परिषद् में मेरी उक्त योजना का वही

लखनऊ में अखिल भारतीय संगीत परिषद् के चतुर्थ अधिवेशन में मैरिस म्यूज़िक कालेज के संस्थापकों के बीच पं० भातखण्डे [१९२४]

ये जो गाते हैं वही 'लक्ष्य-संगीत' है

लखनऊ में अखिल भारतीय संगीत परिषद् के चतुर्थ अधिवेशन में आमन्त्रित ज्येष्ठ एवं उदीयमान नादोपासक

हुआ, जो इसके पूर्व दिल्ली में हो चुका था। दोनों महारथियों ने मेरी योजना की ऐसी कड़ी आलोचना की कि मैं पूर्णतया निराश हो गया। अत्यन्त उत्तेजित होकर सभा में मैंने घोषणा कर डाली कि आप लोगों का ऐसा विरोध होते हुए, अपनी अल्पनिधि एवं शक्ति को जानते हुए भी संगीत विद्यालय की स्थापना करके ही मैं चैन की साँस लूंगा। उस समय मेरे परिवार के आश्रय में दो ऐसे उस्ताद थे, जो बहुत उच्च कोटि के न होते हुए भी जिनका ज्ञान कक्षाएँ प्रारंभ कर देने के लिए पर्याप्त था।

सन् १९२२ में पंडित मदनमोहन मालवीय के निमंत्रण पर हिन्दू विश्वविद्यालय में संगीत शिक्षा का सुगठित प्रबंध कराने में पंडित मालवीय जी को सहायता प्रदान करने के लिये पंडित भातखण्डे बनारस गये हुए थे। वापसी में दरियाबाद में वे मुझसे मिलने आये। लगभग एक मास तक वे मेरे पास रहे। तब उन्होंने मुझे संगीत की न केवल विधिवत् शिक्षा दी, अपितु शास्त्र पर भी प्रतिदिन दो घन्टे तक व्याख्यान दिये। बम्बई तथा देहली में बहुत बड़ा संगीत विद्यालय स्थापित करने की अपनी महत्वाकांक्षा कैसी विफल हो गयी है, यह स्वीकार करते हुए मेरी योजनाओं पर पुनर्विचार करने के प्रमुख उद्देश्य से ही वे दरियाबाद आये हुए थे। यहाँ पर मेरी योजनाओं की पुनः छानबीन हुई तथा संगीत के अखिल भारतीय महाविद्यालय की दृष्टि से उसमें यथायोग्य परिवर्तन किये गए। योजना अधिक विस्तृत की गई। शासकीय अधिकार-प्राप्त कतिपय राजाओं से तथा प्रमुख उस्तादों से सम्पर्क स्थापित करने की मुझे सूचनाएँ दीं। इधर तीन वर्षों से संगीत परिषद् का अधिवेशन भी नहीं हुआ था। अतः चतुर्थ सम्मेलन लखनऊ में बुलाने की मेरी कल्पना का उन्होंने स्वागत किया।

सन् १९२३ में बनारस से लौटते समय मेरी योजनाओं का अंतिम प्रारूप तैयार करने के लिए वे पुनः मेरे पास आये। इसी यात्रा में अखिल भारतीय संगीत परिषद् का चतुर्थ अधिवेशन लखनऊ में आमंत्रित करने की विधिवत् स्वीकृति उन्होंने प्रदान की तथा अनेक राजा-महाराजाओं, रईस-उस्तादों से भेंट-परामर्श करने के लिए अंतिम सूची बना कर दी। इस प्रकार पंडित भातखण्डे जी से सक्रिय प्रेरणा पाने के उपरान्त सन् १९२४ में सर्वप्रथम रामपुर के स्व० नवाब साहब के पास पहुँचा। नवाब साहब ने मनःपूर्वक मेरा अभिनन्दन किया, योजनाओं की सराहना की और अन्य राजाओं के लिए बहुत से परिचय-पत्र दिये। तत्पश्चात् देहली में चेम्बर ऑफ प्रिन्सेस की सभाओं के समय पर मैंने अनेक राजाओं से भेंट की, द्रव्य सहाय्य प्राप्त किया और उनके आश्रित गुणीजनों को राज्य सरकारों के खर्च पर लखनऊ अधिवेशन में प्रेषित करने की स्वीकृति प्राप्त की। ग्वालियर-पटियाला-जयपुर-धौलपुर जहाँ कहीं मैं गया, पं० भातखण्डे के सहकार्य की बात सुनकर सभी प्रकार की सहायता के आश्वासन पाता गया।

उसी समय पर सर विलियम मैरिस उत्तर प्रदेश के गर्वनर नियुक्त हुए। सर विलियम मैरिस भारतीय ललित कलाओं में अभिरुचि रखते थे। भारतीय संगीत में भी उन्हें रुचि थी। पत्र के उत्तर में अभिनन्दन करते हुए उन्होंने लिखा, 'तुम्हारे संगीत विद्यालय की स्थापना के लिये अब यह बहुत ही उपयुक्त अवसर होगा।' उन्होंने सभी प्रकार का प्रोत्साहन और सहयोग देने का आश्वासन दिया। भाग्यवश इसी समय पर मेरे भ्रातृय राय

राजेश्वर बली शिक्षा-मंत्री बन गये। राय राजेश्वर बली का असाधारण व्यक्तित्व, प्रभाव, शासकीय प्रतिष्ठा मेरे लिए बहुत बड़ा धैर्य व बल का स्रोत था।

इसी स्थान पर अन्य एक घटना का स्मरण हुआ। अखिल भारतीय संगीत परिषद् के चतुर्थ अधिवेशन का आमंत्रण प्रकाशित हो चुका था और पुनः एक बार मेरा उत्साह शिथिल हो जाने का प्रसंग अचानक उपस्थित हुआ।

राजा नवाब अली ने मुझे सूचित किया कि परिषद् का अधिवेशन लखनऊ में न बुलाया जाय; क्योंकि शिया एवं सुन्नी पंथ के बहुत से धार्मिक लोग गाने-बजाने के विरोधी होने के कारण परिषद् सफल न हो सकेगी। सर विलियम मैरिस तथा पं० भातखण्डे से परामर्श करने के उपरान्त राजा साहब को मैंने लिख दिया, चूंकि अब सारी तैयारी हो चुकी है, अपील भी प्रकाशित हो गयी है, शिया पंथियों को छोड़कर हिन्दू तथा सुन्नी गायक-वादकों के सहकार्य पर ही परिषद् होगी। उसका स्थगित कर देना अब सम्भव न हो सकेगा।

परिषद् की अध्यक्षता स्व० नवाब साहब रामपुर करनेवाले थे, परन्तु वैयक्तिक अड़चनों के कारण वे उपस्थित न हो सके। अतः सर विलियम मैरिस ने अध्यक्ष-स्थान ग्रहण किया। राजा नवाब अली जिनका योग प्रारम्भ में मुझे न मिल सका था, बाद में मेरे कार्य में पर्याप्त रुचि लेने लगे। स्वागत-समिति के अध्यक्ष भी वे ही चुने गये थे। परिषद् का यही वह अधिवेशन है जहाँ पर लखनऊ में संगीत महाविद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव एकमत से स्वीकृत हुआ। परिषद् का यह चतुर्थ अधिवेशन बहुत ही सफल रहा। देश के प्रायः सभी नामवर कलाकार यहाँ पर आये थे और उन्होंने अपनी कला का प्रदर्शन भी किया। संगीत के शास्त्री, पंडित एवं उस्तादों की एक पृथक् कमेटी बनाई जाकर शैक्षणिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श हुआ। विभिन्न उपाधियाँ एवं प्रमाण-पत्रों की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम निश्चित किये गये। कुछ प्रश्नों पर सदस्यों में मतभेद भी हुआ। अतः आगामी वर्ष पुनः अधिवेशन बुलाया जाकर मतभेदों का निराकरण किया गया और अनेक शास्त्रीय विषयों पर अन्तिम निर्णय लिये गए। इस प्रकार लखनऊ में संगीत महाविद्यालय की स्थापना सन् १९२६ में होकर सर विलियम मैरिस का नाम उसके साथ जोड़ दिया गया। इधर पंडित भातखण्डे जी ने क्रमिक पुस्तक मालिका के छः भाग प्रकाशित कर महाविद्यालयों के लिए पाठ्य-पुस्तकों की समस्याएं दूर कर दीं।

पंडित भातखण्डे जी के परलोक-गमन के बाद सन् १९३९ में उनकी स्मृति में संगीत महाविद्यालय की परीक्षाएं संचालित करने के उद्देश्य से संगीत के विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। यही विश्वविद्यालय "भातखण्डे संगीत विद्यापीठ" नाम से आज तक परीक्षाएँ संचालित करता है।

यह पंडित भातखण्डे जी के ही प्रयत्नों का फल है कि संगीत में क्रमवार एवं सुसंघटित शिक्षण दिया जाने लगा। इसके लिये आवश्यक सभी साहित्य उन्होंने स्वयं निर्माण कर दिया। उत्तरी भारत के सभी राजदरबारों, बड़े-बड़े उस्तादों पर उनका इतना गहरा प्रभाव था, कि संगीत क्षेत्र में उनके दिये हुए निर्णय अंतिम निर्णय माने जाते थे।

उनके साथ बिताये हुए क्षणों का मुझ पर इतना अमिट परिणाम हुआ है कि सारी घटनाएं चित्रवत् सामने आती रहती हैं।

# भारतीय विद्या-संस्कृति का अखूट भण्डार

हिज हाईनेस महाराणा
विजयदेव जी, धरमपुर

यह विद्वान् मेरे लिए निरन्तर मार्गदर्शक और सक्रिय एवं व्यावहारिक उत्तेजना का अखूट भाण्डार था। यहीं नहीं, किन्तु इस विद्वान् की ओर से मुझे सजीव प्रेरणा प्राप्त होती थी। इनके पास कोई भी जिज्ञासु शुद्ध भाव से जाता तो उसे अपना उत्तमोत्तम सर्व देने में हिचकते नहीं थे। इनको जितनी भी श्रद्धांजलि अर्पित की जाय वह अल्प ही है। ऐसे संगीतप्रिय विद्वान् के स्मरणार्थ, इनकी ओर मेरे सम्मान के चिह्न रूप में 'संगीत भाव' की यह पुस्तक इस आत्मा को समर्पित तो की है, किन्तु भारतीय संगीत की जो सेवा इनसे बनी है, इसका मूल्य तो भविष्य में ही अंकित होगा।

अपनी विशाल और दीर्घदृष्टि, रचनात्मक विद्वत्ता और प्रामाणिकता के परिणाम में जिन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत के अन्तर्वर्ती द्रव्य को प्रकाश में लाकर आधुनिक समाज के विशाल समूह को उपलब्ध कराया है, और इसकी अपरिमित कलात्मक शक्ति के अधिक विकास के लिए भावी समाज को संगठित किया है, उन पं० विष्णु नारायण भातखण्डे बी० ए०, एल० एल० बी० के स्मरणार्थ...।

—'संगीतभाव' से उद्धृत

**सूचना—निम्न भाषण पं० भातखण्डे के देहावसान पर दि० ११ अक्तूबर १९३६ को ब्लावाट्स्की लॉज बम्बई में आयोजित सार्वजनिक शोक-सभा के अध्यक्ष पद से हिज हाईनेस महाराणा साहब द्वारा दिया गया था।**

*Friends, Workers And Fellow Musicians*

It is my duty to be present here. No words of mine can I realise, do anything approaching justice to the memory and achievements of one who had been the pride of Indian Scholarship and culture. Circumstances have, however, made it incumbent on me to speak on this sad occasion. It is a painful duty. It is with a heavy heart that I venture to perform it. When some months ago I consented to undertake the responsibility of assisting the Bharatiya Sangeet Samiti, I did so with confidence which was, I confess, not entirely my own. Behind that confidence lay the moral support and inspiration of the

great personality Vishnu Narayan Bhatkhande, whose loss we have to mourn to-day and whose great work for Hindusthani music we have met here to commemorate. When I undertook to assist the Bharatiya Sangeet Samiti and its preliminary music conference I had not dreamt that I would be called upon to mourn the loss of a co-worker and friend for whom I had the highest esteem. I hah dreamt of other things, I had contemplated and planned activities which I hoped to see executed with his assistance. The news of his death came as a rude shock to me. Will my hopes, your hopes, will the hopes of all eager to advance Hindusthani music, remain hopes ?

## *The Pioneer's Environment*

Let us visualise the times, life and work with which Pandit Vishnu Narayan Bhatkhande's name remains immortally associated for the answer. Thirty and more years ago when Pandit Bhatkhande began and subsequently resolved to translate his love for Hindusthani music into a continued unwearied, day-to-day programme of service, he had to confront social, intellectual and finally professional prejudices. These were not merely academic or abstract prejudices. These prejudices took shape as positive obstacles; definite active resistance, Vishnu Bhatkhande had to confront it early in life as a devoted student seeking no more than information and enlightenment and he had to confront it later as a critic and exponent of Hindusthani music. The social atmosphere built up by the generation of his young days left no doubt the position of one who at the time took up music as his calling or the main objective of his life. It was just not done. Music was not the correct thing for 'respectable' man. For women, music was to be not even thought of. Such was the pious horror which music seemed to arouse at the time over sixty years ago when Pandit Bhatkhande formed his early intellectual inclinations.

## *Inlellectual Atmosphere*

The intellectual community, composed mostly of lawyers, doctors and administrators, found itself under a lop-sided system of education which served only to segregate music from life and accentuate the intellectual prejudices against it. Puritanism which had exhausted its stern anathemas in the West found strange roots and strength in this country. In no other country in the world, not even in the country from which we have borrowed our system of education, had placed music so low, so contemptuously neglected, as in this country. No where in the West were the young natural instincts for rhythm, for music, so completely repressed, censored and banned

as they happened to be in the country Vishnu Bhatkhande was called upon to serve. Music had literally become the direct Harijan child in the "reformed" community of those whose learning was, obviously, lop-sided and whose puritanism ended with the repression of one of the noblest of gifts of art to mankind.

### *Social Censorship And Repression*

Social censorship and the consequent repressive customs and conventions combined with intellectual puritanism brought the practising artists, the custodians of the great traditions of Hindusthani music, inevitably into a kind of blind alley which, equally inevitably, developed amongst them certain strong prejudices. Vishnu Bhatkhande had thus the initial handicap when he began to check his personal experiences and impressions and the knowledge he derived from the ancient books on Hindusthani music with the practice then current of Hindusthani musicians, vocalists and instrumentalists.

### *Professional Prejudices*

Although he was skilled as instrumentalist and practised on the "Sitar." Vishnu Bhatkhande found it very difficult to win over the prejudices of those who could not see the relation between singing and books and instruments, between theory and practice of music. But he did, finally, win them over. Such was the persuasive tenacity of the man whom in annoyance they began to tease and, subsequently not a few of them in admiration honoured as "Panditji".

### *Realities of The Situation*

The realities of the situation led him logically to the determined weeding out of the obstacles that prevented in the first place, the diffusion of interest in music and, secondly, the systematic study, practice and appreciation of Hindusthani music. He determined to collect information, theoretical and practical, about music, vocal and instrumental, from every conceivable quarter. He classified the information, and finally, he arrived at the method or system by which he could rebuild the vital essentials of Hindusthani music. For diffusion of interest he championed the system of simple notations. For systematic study and practice he evolved the graded books and text books which are now known to every student of Hindusthani music.

### *His Early Training And Experience*

Vishnu Bhatkhande's early enthusiasm for music received its first definite impetus at the hands of Vallabhdas Damodardas, pupil of

Jivanlal Maharaj and Bajpai of Benares, who taught him "Sitar". He was also helped by Gopalgir Jairamgir pupil of Ali Hussein Binkar. In 1884, he joined the "Gayan Uttejak Mandali". This institution was, in many ways, a landmark in the career of Vishnu Bhatkhande. Here he learnt for many years music from Raoji Buva Belbaugkar, a well-known "Dhrupad" singer. Here he obtained the guidance of Ali Hussein Khan and his maternal uncle Vilayat Hussein Khan. It was here at the "Gayan Uttejak Mandali" that he had the opportunity of starting the collection of first-hand information about Ragas from well-known practitioners who visited from time to time the institute.

### *Fifteen Year's Concentrated Research*

From 1890 and onwards for a period of over fifteen years he concentrated his attention on the study of ancient books on music in Sanskrit as well as in Hindi, Telegu, English, Bengali and Gujerati.

### *His Tours*

He supplemented the knowledge from books with tours for the personal contact with famous musicians in the different provinces of the country and increased the storehouse of his information on music immensely by this method of first-hand investigation. His tours undertaken at different periods, included Madras, Tanjore, Ettypuram, Madura, Ramnad, Rameshwar, Trivendrum, Trichinopoly, Mysore, Bangalore. He visited Gujrat and toured Surat, Broach, Baroda, Navsari, Ahmedabad, Rajkot, Wankaner, Jamnagar, Junagarh, Bhavnagar. Subsequently he visited Hyderabad, Shikarpur and other places in Sind and Cutch and Multan. Some years later he visited Nagpur, Calcutta, Jagannath, Vizianagaram, Deccan Hyderabad. This tour was followed by visits to Allahabad, Benares, Gaya, Muttra, Lucknow, Agra, Delhi, Jaypore, Jodhpur, Bikaner, Udeypur, Rampur.

### *Music Conferences*

In 1915-16 the first All India Music Conference was organised at Baroda largely through his efforts and the subsequent four All India Music Conferences, at Delhi in 1918 at Benares in 1919, at Lucknow in 1925 and 1927 which he attended personally and endeavoured to focus the attention of the practising artists as well as the students and exponents of music towards the problems of music and towards the fruitful consolidation of the available knowledge and current practice of Hindusthani music.

*His Books, Publications, Written Records*

All the information he thus gathered, all the discussion and the consequent clarification which occurred, all the impressions and the experiences which he found during these tours and the sessions of the conferences were, fortunately, definitely serviceable. For Vishnu Bhatkhande had determined to use all this for a permanent objective, not only for his own individual benefit. These are enshrined in the books which are more than an index to his monumental scholarship. I mention only some of them. The report of the conferences, the translation of various books he got translated, both these commonly available and the rare manuscripts and books in private and state collections and libraries and the lectures he delivered would alone have entitled him to the front rank of those who have hitherto worked for the advancement of Hindusthani music. But his books are an irreplaceable treasure-house of information which would otherwise have remained, for most of us, almost inaccessible. They are, moreover, rare in the measure of the vast area of scholarly investigations they cover. The "Lakshan Gitas", the "Lakshya Sangeetam", the "Hindusthani Sangeet Paddhati",– in four parts—the "Swara Malika", the Ashtottarashta-Tala Lakshanam the "Sangeet Parijata Praveshika", the "Raga Vibhodha Praveshika", the Sadraga Chandrodaya. "Rag-Lakshanam", the "Kramika Pustaka Malika", dealing without of the way Raga's in six parts of which four have been published, the fifth is nearly printed and the sixth though written and will be in due course published will infortunately not contain some of the rare songs in the Tansen traditions he wished to publish with the help of his Guru, co-worker and colleague, H. H. the late Nawab Saheb of Rampur and Thakur Nawab Ali Khan of Lucknow. But fate decided otherwise and death having deprived us of these celebrated exponents of music have deprived us also of the invaluable musical heritage. His books are not merely a collection of available information of Hindusthani music; they are classified information and in the discussions on Hindusthani music they have thrown light on many corners that remained hitherto darkly confused.

*His Diaries And English books*

His works in English include, "The Short Historic Survey of Music of Western India", "Comparative Study of the Musical Systems of the 16th, 17th and 18th Centuries" and "The Philosophy of Music."

His diaries record the impressions of the great personalities in Indian music with which he came into direct contact. They have been enlivened by humour and critical discrimination which those who knew Pandit Bhatkhande knew as the salient traits of the great exponent. His original compositions reveal a further milestone in the achievements of the exponent who was thus marked out as a creative artist as well.

### *Phonograph Records of "Ragas"*

Not satisfied with the written records of his investigation, he took advantage of the then known phonograph and recorded the music on the wax cylinders which unfortunately time destroyed. The songs of Mahomed Ali Khan of Jaypore and of his sons Askah Ali Khan and Ahmed Ali Khan, the leading interpreters of the famous "Manranga" School of Hindusthani music. There were nearly 300 songs thus recorded and Panditji got from them invaluable information of some of the obsolete Ragas as well.

### *Founded Training Institutions And Colleges*

This was, however, not enough for Panditji and he proceeded further towards the practical system of instruction in music. The assistance he offered to the Benares Hindu University, the University for Women at Poona, the State Schools at Baroda, the Bombay Municipality and the Bengal Government and finally the Madhav Sangeet vidyalaya at Gwalior and the Marris College of Music at Lucknow founded by him are all an eloquent testimony to the extent to which he was able to carry out his determined objectives.

### *The Friend of All Art Lovers*

I should like to mention the names of scholars, practising artists, exponents of Indian art and culture, Indian and European, who considered his friendship a rare privilege. If I may recall, I concluded the last Music Conference in this city with the observation that the foundation of the mighty mansion of music could be built by the rich and poor, Hindus and Muslims. Pandit Bhatkhande's life, work and achievements have proved this irrefutably. He was the friend of the poor and the rich, Hindus and Muslims, Indians and non-Indians, peasants and princes.

Will our hopes, the hopes all eager to advance Hindusthani Music I asked, if I may recall the question, at the beginning of this speech. Here is the answer provided by his work and achievements.

*The Melody of Life; Hard Work And Sacrifice.*

His life was one continuous melody whose main notes were honest hard work consecrated by unfaltering purposive sacrifice. I will not trouble you with its details. He was not rich. He earned his way to education and later earned as a lawyer only that he could spend for music, until the lawyer was forgotten by the musician. He had vowed not to accept a pie for his personal benefit and until death remained the great student with an open, unbiased, mind. He was a student that he could be the great teacher, always increasing his store of knowledge, always eager to add to his information, always seeking to clarify, always giving and dreaming and planning and working to give more, help more and more to the increasing number of students and lovers of music; always seeking and offering light and more light.

*The Trust*

He has executed a trust for safeguarding his music publications which provides that the investment of the sale proceeds of his books should be utilised for their re-publication. So that, the publication may never go out of the reach of the student of Hindusthani music. That is the answer his life, work and achievements offer. That should be our encouragement, impetus and inspiration for the reconstructive work in music which remains to be done and which he has left us, as a sacred national trust to do.

*Museum For Manuscripts*

It is for those more competent than myself to direct the exact scope and character of that noble work. But if your kindness would so permit me, I would suggest that the manuscripts—all not excluding his scraps of notes—of Pandit Bhatkhande should be preserved in a museum arranged to consecrate his memory. I would have liked it to be located in some room in the Bombay University. But I hesitate to make the proposal because it is sad to think the Bombay University has yet shown no overt signs of its interest in Indian Music. If the Bombay University, even belated wakes up to the importance, nay, necessity of recognising music as one of its subjects of study, it would however imperfectly, be a tribute to the memory of one who was decidedly one of the outstanding citizens of this great city. But if the museum cannot be located in the Bombay University, it could easily find its legitimate altar at the Marris College at Lucknow.

*The Servant of India*

I am grateful to you for the kind patience with which you have listened to me. I conclude, with the prayer that the memory of the great servant of India may inspire all of us to work, for music with hope and courage, fortified with honest work critical discrimination and the insatiable eagerness to give the best and the noblest that is in us not to the few, but to all.

*Two Lessons of His Life*

That is perhaps the greatest lesson his life and work has taught us. That is why he insisted on the uniform system of notations for the widest diffusion of interest and appreciation of music There is another lesson, equally great, that his life and work has left us. He expected us not to rest content with what we have inherited but to continue adding to our artistic heritage. If we can understand and appreciate these two guiding lines, or shall I say, the main melodic notes of his life and work we would be not only paying the highest tribute to his sacred memory but initiating the most inspiring attempt to turn creative artists to serve the needs of the times, as he served the needs of his time.

# ऐसा धमार मैंने नहीं सुना

प्रो० नारायण लक्ष्मण गुणे, इलाहाबाद

माधव संगीत विद्यालय, ग्वालियर की स्थापना और उसमें मेरा प्रवेश एक साथ हुआ। विद्यालय का मैं प्रथम स्नातक हूँ। प्रवेश हेतु हमारी कण्ठ परीक्षा में पं० भात-खण्डे ने जिस प्रकार एक सीटी का उपयोग किया था, उसका स्मरण आज भी करने पर उनकी असामान्य बुद्धिमत्ता की सारी बातें ध्यान में आने लगती हैं। पण्डित जी ने हमें प्रथम त्रिताल सिखाया। अपने पाठ की शुरुआत उन्होंने इस प्रकार की थी—'विद्यार्थियों, देखो, तुम्हारे घर यदि सोलह मेहमान आ गये और घर में कमरे केवल चार ही हैं तो उनके ठहरने का प्रबंध कैसे करोगे ?' हम लोगों ने तुरन्त जवाब दिया कि हर कमरे में चार-चार मेहमान ठहरा दिए जावेंगे। मेरी तथा मेरे सहपाठियों की आयु उस समय नौ-दस वर्ष की होगी, अतः संगीत शिक्षा में हमारी रुचि बढ़े; इस दृष्टि से विभिन्न प्रकार के नये-नये उदाहरण देकर मूल विषय को हमें समझाते थे।

प्रति वर्ष दो-तीन बार पंडित जी बम्बई से ग्वालियर आते थे। और नौताला गेस्ट हाउस में ग्वालियर महाराजा के उच्च श्रेणी के अतिथि के रूप में पन्द्रह-पन्द्रह दिन ठहरते थे। प्रत्येक यात्रा के समय कौन-सी तिथि को, किस गाड़ी से, किस समय पहुँच रहा हूँ इसकी सूचना प्रायः पन्द्रह दिन पूर्व ही गु० स्व० राजाभैया जी के पास आ जाती थी। उनकी ऐसी सूचना आते ही उत्साह की लहर दौड़ जाती। एक-एक दिन गिनना शुरू हो जाता। हमारे सभी बन्धुवर्गों में ऐसी उत्कंठा लगी रहती मानो कोई निजी आप्त ही आ रहा है। प्रत्येक बन्धु चढ़ा-चोटी से अपना-अपना रियाज़ करने में डूबा रहता। पंडित जी को अपना चढ़ा हुआ राग सुनाता था। इधर हमारे गुरुजन स्व० दाते गुरुजी, राजाभैयाजी, खूब सक्ति से, रुचि से, प्रेम से हमारा अभ्यास करवाते थे। पंडित जी के शुभागमन के समय पर हम सब विद्यार्थियों की स्टेशन पर एक भारी भीड़ लग जाती थी। पंडित जी भी डिब्बे में खिड़की पर खड़े रहकर गाड़ी स्टेशन पर कब रुकती है और कब मैं सब से मिलता हूँ इसकी प्रतीक्षा आतुरता से करते रहते। वे इतने आनंदविभोर हो जाते कि उनको अपने सामान की भी खबर न रहती। एक बार तो उनका बहुत-सा सामान ही डिब्बे में रह गया। बात-बात में गाड़ी छूट गई, परन्तु उन्होंने कुछ भी चिन्ता न दिखाई। तार देकर बाद में वह सामान आगरे में उतार लिया गया। वे ग्वालियर में जब भी आते, पंद्रह दिन स्वर्ग-सा आनन्द आता। पंडित जी की वह गंभीर, हँसमुख मुद्रा, मधुर भाषण का स्मरण होते ही हृदय गद्-गद् हो जाता है। हम लोग तो उन्हें अभिमान-पूर्वक अण्णा साहब कहते थे। जिनको उनके दर्शन मात्र

का ही सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे भी सचमुच भाग्यशाली हैं। लेकिन हमारे भाग्य का तो कहना ही क्या, पंद्रह-पंद्रह दिन उनके सम्पर्क में रह कर उनसे तालीम पाते थे।

विद्यालय में उनके पधारने का दृश्य भी आज ज्यों का त्यों ध्यान में आता है। आँखें स्वप्निल हो जाती हैं। एक ओर गु० राजाभैया जी तो दूसरी ओर दातेगुरुजी, विष्णु बुआ और बीच में छड़ी घुमाते हुए, कन्धे का दुपट्टा अस्तव्यस्त होकर कभी-कभी तो ज़मीन पर घिसरता हुआ, साथियों के सान्निध्य पर खुशी-खुशी से परन्तु धीरे-धीरे पंडित जी का आगमन होता था। विद्यालय पर उनका इतना प्रेम था कि ऐसा लगता मानो कोई बालक अपनी माता से भेंट करने जा रहा है। उनकी वह मुद्रा आज ध्यान में आते ही ऐसा लगता है, जैसे सारी घटनाएँ पुनः-पुनः हो रही हैं। कोई भी बात मराठी में समझाने पर अंत में 'खरें ना ?' यह वाक्य बहुत ही अच्छी प्रकार से दुहराते जाते। उनकी बात सुननेवाले के हृदय तक तत्काल पहुँच जाती। विद्यालय में आते ही सब दर्जों में राउन्ड कर लेते। फिर हम सब लोग एक कमरे में एकत्रित हो जाते और जोड़ी-जोड़ी से गाना सुनाते थे। उस समय के हमारे बंधु वर्गों में, गंगाप्रसाद पाठक, स्व० सदाशिवराव अग्निहोत्री, रामजीभैया अग्निहोत्री, वामनराव राजूरकर, विष्णु शामराव अत्रे, बालाभाऊ उमड़ेकर, विश्वनाथ सांवले (तात्याबोवा), उमाकान्त राजूरकर (भौव्वा), नारायण पाठक इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। हम सब पहिली बैच के थे। मैं और गंगाप्रसाद जी जोड़ी से गाते थे। जब हम गाते तब बीच-बीच में पंडित जी हमें समझाते रहते और स्वयं गा कर बताते थे कि इसमें इस प्रकार आलाप, बढत प्रत्येक स्वर की करो। हम पर खुश होते हुए आखिर में कहते थे कि अब तुम अपने ग्वालियर की तानों के बंडल छोड़ो। कई चीजें, ध्रुवपद, धमार हमें सिखाते थे, ध्रुवपद धमार में तो उनकी आश्चर्यजनक प्रवीणता थी। एक बार हमें बिहाग का धमार 'लंगरवा कूदे परौ' सिखाया था, उस वक्त की याद आती है। अपनी छड़ी ठोक-ठोंक कर धमार की लय बता रहे थे और धमार के बोल किस प्रकार कहना चाहिए, वे स्वयं गाकर दिखाते थे। लय सम्हालते हुए कौन-सा अक्षर कितने समय में कितने छोटे-बड़े उच्चार से कहना है, यह कमाल की फुर्ती के साथ समझा रहे थे। 'पाये अकेली घर नार' यह अक्षर इतने सुन्दर गाए थे कि उनके समान यह धमार फिर कभी सुनी ही नहीं। उनका गाना सुनने का जिसको सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, वह सचमुच दुर्भागी ही है। उनके सिखाने की पद्धति याद आती है। कोई भी चीज जब वह सिखाते थे, तब प्रारंभिक टुकड़ों से नहीं सिखाते थे, उस चीज के बीच-बीच के वाक्य सिखाते थे, उसमें उनकी बहुत ही गहराई थी जो हर व्यक्ति को समझ में आना कठिन है। किसी भी चीज में जिस वाक्य पर रागों के मुख्य स्वरसमुदाय रहते थे, वह वाक्य पंडित जी सर्व प्रथम सिखाते थे; जिससे राग का प्रमुख अंग पहले ही तैयार हो जाय व राग समझ में आ जाय—यह उनका उद्देश्य रहता था। बाद में एक-एक वाक्य सिखाकर प्रत्येक वाक्य पृथक्-पृथक् रूप से याद करवाते थे। नया वाक्य सिखाते समय पीछे का वाक्य दोहराते जाते। इस प्रकार सीखने से सारी चीज हमें उसी समय कंठस्थ हो कर याद भी हो जाती थी। इन चीजों को पंडित जी जब सुनते तो उनको इतनी खुशी होती थी कि वे स्वर्ग अपने को भूल जाते थे। और हमारे गुरुजनों को कहते थे कि, 'देखो ! यह आनन्द मुझे केवल ग्वालियर में ही मिलता है।' खमाज राग

की 'न मानूंगी न मानूंगी' यह चीज एक बार हमको उन्होंने सिखाना शुरू किया, तो मुझे स्मरण है कि पहले 'मैं तो उन्हीं के मनाए बिना' यही वाक्य सिखाया था, जिसमें कि समाज राग का पूर्ण दिग्दर्शन है। उसके बाद 'न मानूंगी न मानूंगी' यह वाक्य सिखाया था। कभी-कभी ब्लेकबोर्ड पर बहुत ही जल्दी एक चीज लिखते थे और पढ़वाते थे। मुझ पर उनका विशेष प्रेम था। मुझे नारायण ही कहा करते थे। कभी-कभी जब वे कोई चीज सिखाते थे तब कहते थे कि यह चीज हमारे वाड़ीलाल (वाड्या), रातांजनकर (बाबू) बहुत अच्छी गाते हैं। ये ही दोनों उनके प्रिय शिष्य थे। वाड़ीलाल जी का अब देहान्त हो गया, परन्तु मुझे उनका भी गाना सुनने का सौभाग्य मिला है। उनका गला तो साधारण ही था। परन्तु पंडित जी की हू-ब-हू कापी थी। श्री रातांजनकर जी के गाने में तो पंडित जी की प्रतिमा जगह-जगह दिखाई देती है इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है। पंडित जी हमारी परीक्षा टाउनहाल थियेटर के ऊपरी कक्ष में लिया करते थे। हमारी परीक्षा के समय बड़े-बड़े आफिसर्स—जैसे कि, श्री रावबहादुर भिड़े साहब, स० गो० परचुरे, श्री प्राणनाथ, श्री देव साहब इत्यादि उपस्थित रहते। पंडित जी का एक प्रश्न निश्चित ही रहता था, जो कि वे सब को पूछते थे। वह यह कि स्वर पहिचान और बारह स्वरों का लगाना। यदि कोई विद्यार्थी एकाध सवाल चूक रहा हो तो बड़ी ही खूबी से उसको सही करवा लेते थे। उस समय सब श्रोतृवर्ग बहुत ही प्रसन्न होता था। सुबह परीक्षा होती थी, शाम को जगह-जगह गाने के जल्से होते थे। कुछ-कुछ जल्सों की तो जगह निश्चित भी थी। जैसे पोस्टमास्टर स्व० मुकुन्दराव लुखे, सरदार पागनीस साहब, स्व० नानाबोवा अग्निहोत्री इत्यादि। वहाँ पर हम लोग गाते थे। पंडित जी लोड़ से टिक कर बैठते और खूब खुश होते थे।

सन् १९२४ या '२५ में क्रमिक तीसरी पुस्तक का नोटेशन करने के लिए स्व० गुरुजी राजाभैया, भास्करराव खांडेपारकर और स्वयं मैं जून महिने में बम्बई गये। सुबह १० बजे से शाम ५ बजे तक पुस्तक का कार्य मलाड में सुकथनकर जी के बंगले में हुआ करता था और हम लोग विलेपार्ले में ठहरे थे। श्री रातांजनकर जी बोरिवली से आते थे। पंडितजी, राजाभैयाजी, भास्करराव जी, रातांजनकर जी और मैं इतने सज्जन नियमित रूप से रोजाना उपस्थित रहते थे। कभी-कभी वाड़ीलाल जी तथा रातांजनकरजी के पिताजी भी रहते थे। चार बजे तक पुस्तक का कार्य चलता था, बाद में एक घण्टा हम सब लोग गाया करते थे। उस समय पंडित जी कभी-कभी कहते थे, 'बाबू, तुम उस्ताद फैयाज खाँ की एक तान लो' और फिर मुझे कहते थे, 'अब तुम ऐसी लो'। फिर कहते थे 'तुम ग्वालियर की तान लो' और फिर रातांजनकर जी को कहते, 'बाबू, तुम ऐसी लो' इस प्रकार बड़ा ही रोचक कार्य-क्रम रहता था। पंडित जी ने एकनाथ पंडित से ग्वालियर के कुछ ख्याल सीखे थे। राजाभैयाजी स्व० शंकरराव पंडित से सीखे हुए थे। तो भास्करराव जी स्व० गणपतराव पंडित से सीखे हुए थे। जब भी कोई ख्याल नोटेशन के लिए चुना जाता था, तब तीनों सज्जन अपना-अपना सीखा हुआ जैसा था वैसा ही गाते थे, और फिर सब का एकीकरण होकर अंत में निश्चित रूप से लिखा जाता था। पहले स्लेट पर लिखा जाता था और बाद में उसकी कापियाँ बनाई जातीं। लगभग चार-पाँच ख्याल रोज तैयार होते थे। अधिकतर

राजाभैया जैसे गाते थे, उसी को पंडित जी स्वीकार करते थे। कई बार कुछ टुकड़े रागों के नियम के विरुद्ध ख्याल में रहते थे, उसको सुधारकर पंडित जी बहुत अच्छी प्रकार से गाते थे और उसे ही राजाभैया कायम कर देने के लिए कहते थे। परन्तु पंडित जी पर कुछ लोगों के ऐसे आक्षेप थे, कि उन्होंने ग्वालियर के ख्याल बिगाड़ दिए। इसलिए जैसे राजाभैया गाते प्रायः उसी के समान पंडितजी उनको लिख लेते थे। पंडित जी राजाभैया को 'भैया' कहा करते थे। जब ख्याल तैयार हो जाता था तो उसकी सुवाच्य कापी भास्करराव जी लिखते थे। उनके अक्षर बहुत ही सुन्दर थे। उनको पंडित जी 'फडनीस' कहते थे। मुझे स्मरण है कि, केदार राग का बड़ा ख्याल 'बन ठन काहा जु चले' को नोटेशन में पहले

प सांध सांनि रें सांनि सांध ,प

'कन्हाई' का क न्हाऽ ऽऽ ऽ ऽऽ ऽऽ ई इस प्रकार पंडित जी ने रखा था। परन्तु इस पर फिर बहस हुई। तब पंडित जी ने राजाभैया को यही कहा 'भैया, जैसा तुम गाते हो वैसा ही रखो। नहीं तो फिर ग्वालियर के लोग आरोप करेंगे।'

प ध निध प (प) म

अन्त में क न्हा ऽऽ ऽ ऽ ई ऐसा ही लिखा गया, जैसा कि राजाभैया गाते थे। ऐसी कई चीजें हैं जिन्हें राजाभैया जैसी गाते थे वैसी ही हू-ब-हू लिखी गईं। हाँ, पंडित जी इनकी अशुद्धियाँ जरूर बता देते थे, परन्तु उनमें जहाँ तक हो सके बदल नहीं करते थे। 'बोरे जिन अल्ला' सारंग राग के इस ख्याल को तो दो दिन लगे थे।

पंडित जी का स्वभाव तो देवता समान ही था। उनको गुस्सा करते हुए मैंने कभी देखा ही नहीं। प्रत्येक कलाकार की गहराई वे बहुत ही चतुरता से नापते थे; क्योंकि वे स्वयं ही वकील थे। जैसा उनका नाम 'चतुर' है वैसे ही वे थे भी। मुझे उनकी एक-दो बातें राजाभैया ने बताई थीं, जो कि पंडित जी ने उन्हें कही थीं। एक समय की बात है, बम्बई में एक गायक ने खुली चुनौती दी थी कि, संगीत शास्त्र में जिसको कोई शंका हो वह यहाँ आकर पूछ सकता है। पंडित जी जब वहाँ गये तो नीचे उक गायक के गुरुजी बैठे हुए थे। उन्होंने पूछा, 'कहो भातखण्डे, आज कैसे पधारे ?' पंडित जी ने कहा, 'आपके शिष्य का विज्ञापन पढ़कर मुझे बहुत ही खुशी हुई। मुझे श्रुति के विषय में कुछ शंकाएँ हैं, उन्हें पूछ लूं।' तब उन्होंने कहा, 'भातखंडे, वह तुम्हें क्या बताएगा ? वह विज्ञापन अन्य लोगों के लिये है।' पंडित जी ने कहा, 'पूछ तो लूं। पंडित जी ऊपर पहुंचे। इन्हें देखते ही उस गायक ने कहा, 'कहिये पंडित जी, कैसे कष्ट किया ?' पंडित जी ने उत्तर दिया, 'कुछ शंकाएँ श्रुति के विषय में पूछनी हैं।' गायक महोदय ने कहा, 'मैं आपको क्या बता सकता हूँ।' अंत में पंडित जी जब नीचे लौट कर आये तब गायक के गुरु ने पूछा, 'कहो भातखण्डे, कुछ बताया ?' पंडित जी ने कहा, 'क्या कहने आपके शिष्य की बात ? एक मिनट में उन्होंने मेरी शंका का पूर्ण रूप से समाधान कर दिया।' पंडित जी किसी का भी अपमान करना नहीं जानते थे। यही उनके स्वभाव की विशेषता थी।

स्व० राजाभैया की बताई हुई दूसरी बात इस प्रकार थी। एक बार पंडित जी की परीक्षा लेने हेतु एक-दो गायक बंबई में उनके निवास-स्थान पर गए। पंडित जी बैठे हुए अपने कार्य में व्यस्त थे। गायकों को देखकर उन्होंने पूछा, 'आज कैसे आना हुआ ?' गायकों ने कहा, पंडित जी, हमारे खानदान में एक-दो ख्याल ऐसे गाये जाते हैं, जिनके रागों का कुछ पता नहीं चल रहा है'। पंडित जी ने नम्रता से कहा, 'मैं क्या बता सकता हूँ ? अच्छा आप सुनाइये, कोशिश करूँगा।' उन्होंने वह सुनाये। पंडित जी ने उन्हें सुनकर वैसे ही दूसरे दो ख्याल उनको सुनाए और पूछा, 'यह ख्याल आपको किस राग के मालूम पड़ते हैं ?' गायकों ने कहा, 'हमें तो वे मलुहाकेदार के मालूम पड़ते हैं।' तब पंडित जी ने कहा, 'आपके ख्यालों से यह मिलते हैं या नहीं ?' तब गायकों ने कबूल किया और हाथ जोड़कर चुपचाप चले गए।

सन् १९२४ की लखनऊ कान्फ्रेन्स में राजाभैया के साथ मुझे भी उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गायकों में अलाबन्दे खाँ और फैयाज़ खाँ पर पंडितजी का विशेष अनुराग था। इन दोनों की दो विशेष घटनाएँ अभी भी मेरे स्मरण में हैं। अलाबन्दे खाँ साहब के साथ उनके सुपुत्र नसीरुद्दीन खाँ साहब भी आये हुए थे। अलाबन्दे खाँ साहब पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे तो नसीरुद्दीन खाँ साहब अपनी पूरी जवानी में थे। दोनों ने एक साथ गाया। परन्तु निर्णायक कमेटी ने, जिसमें भातखण्डेजी और ठाकुर नवाबअली प्रमुख रूप से थे, अलाबन्दे खाँ साहब के लिए स्वर्णपदक घोषित किया। सुनकर नसीरुद्दीन खाँ साहब बहुत नाराज हुए और अपने लिए स्वर्णपदक क्यों नहीं दिया गया, ऐसा तर्क पंडित जी से करने लगे। बहुत समझाने पर भी जब वे नहीं माने तो ऐसा निश्चित हुआ कि दूसरे दिन दोनों का गायन पुनः रखा जाय। अलाबन्दे खाँ साहब गाने के लिये बैठे और उनके साथ उनके पीछे नसीरुद्दीन खाँ साहब भी बैठे। दोनों ने मिलकर पूरिया राग में आलाप भरने शुरू किये। गाते-गाते अलाबन्दे खाँ साहब ने अपने लड़के नसीरुद्दीन खाँ को रोक दिया और कहा—'देखो बेटा, अब अपने को गान्धार की सीमा तक ही आलाप करने हैं, और हर बार नये-नये टुकड़े पेश करने हैं। एक बार गाया हुआ टुकड़ा पुनः दोहराना नहीं है। हाँ, बस, अब शुरू हो जाओ।' मुश्किल से चार-पाँच मिनट बीते होंगे और नसीरुद्दीन खाँ साहब के गले से वही-वही टुकड़े आने लगे, तो अलाबन्दे खाँ साहब हर बार नया टुकड़ा रचाते जाते। अन्त में नसीरुद्दीन खाँ हार मान कर अलाबन्दे खाँ साहब से कहने लगे कि, 'आपने मुझे इतनी तालीम दी, इतना तैयार किया, पर ये बात अपने ही पास अभी तक कैसे छपाकर रखो ?' अलाबन्दे खाँ साहब हँस दिये और बोले'—'बेटा, मुझे मालूम था कि आज की तरह का एक दिन आनेवाला है। और उस दिन अपनी लज्जा की रक्षा के लिये यह तालीम तुम्हें नहीं दी थी।' बाद में काफी देर तक गाना हुआ। दोनों के गायन पर सभी श्रोतागण खुश हुए। पंडित भातखण्डे जी ने नसीरुद्दीन खाँ से कहा, 'क्यों खाँ साहब ! अब तो समझ गये, हमने अलाबन्दे खाँ साहब का स्वर्णपदक के लिये क्यों चुना ?'

इसी कान्फ्रेन्स का प्रारम्भ फैयाज़ खाँ साहब के गायन से होना निर्धारित हुआ था। पता नहीं क्यों, परन्तु उस रोज फैयाज़ खाँ साहब ने अपना गायन 'वन्दे नन्द कुमारम्' से प्रारम्भ किया। कान्फ्रेन्स में एक से एक अच्छे गानेवाले और सुननेवाले थे। नतीजा

यह हुआ कि उस दिन फैयाज़ खाँ साहब का गाना एकदम गिर गया। नवाबअली साहब पंडित जी से कहने लगे, 'जिस फैयाज़ की आप इतनी जी भर कर तारीफ़ कर रहे थे, वे क्या ऐसे ही हैं ?' जो कुछ हुआ उस पर पंडित जी बहुत दुखी थे। पंडित जी ने कान्फ्रेन्स के प्रबन्धकों से आग्रह करते हुए कहा कि फैयाज़ खाँ का गायन एक बार पुनः रखा जाय। परन्तु ऐसा स्वीकार करने के लिए कोई भी तैयार नहीं हो रहा था। अन्त में यही निश्चित हुआ कि पंडित जी की इच्छानुसार फैयाज़खाँ को पुनः एक मौका दिया जाय, परन्तु २० मिनट से अधिक नहीं। दूसरे दिन सुबह फैयाज़ खाँ साहब गाने के लिए बैठे और रामकली में 'आज राधे तोरे बदन पर शाम मिले की चोरी' यह ख्याल शुरू किया। उनके पीछे श्री रातांजनकर और श्री दिलीपचन्द्र दोनों बैठे हुए थे। पंचम के साथ तीव्र मध्यम कुछ ऐसी तासीर से लग रहा था कि सारी सभा रोमांचित हो उठी। ऐसी रामकली मैंने तो आज तक नहीं सुनी। सारे लोग मन्त्रमुग्ध हो गये थे। २० मिनट कैसे बीत गये, किसी को भी मालूम नहीं हुआ। इधर समय समाप्त होते ही पंडित जी ने बेल का बटन दबाना शुरू किया। फैयाज़ खाँ साहब भी गायन का उपसंहार सजाने में लग गये। नवाब-अली साहब हाथ जोड़कर पंडित जी से कह रहे थे कि 'फैयाज़ को गाने दीजिए। आपकी पसंद में सचमुच पक्षपात नहीं है। केवल आपकी वजह से ऐसा अनुपम संगीत हमें सुनने को मिल रहा है।' उधर पंडित जी कहते रहे कि 'फैयाज़ खाँ को बीस मिनट का दुबारा समय देकर आपने मुझे बहुत उपकृत किया है। उनका अच्छे से अच्छा गाना आप लोग सुनें, ऐसी मेरी इच्छा थी; वह पूरी हुई। अब उन्हें आज्ञा दीजिए।' नवाब अली साहब ने पुनः अनुरोध किया और फैयाज़ खाँ का गाना आगे जारी हो गया। फैयाज़ खाँ साहब पर उनका क्यों और कितना अगाध प्रेम था, यह बात उस दिन सभी ने देखी।

# मैं भी कितना भाग्यशाली हूँ

प्रो० बालाजी श्रीधर पाठक, इलाहाबाद

संगीतकला के क्षेत्र में स्व० पं० भातखंडे जी की कीर्ति अजरामर है। यह ऐसी महान् विभूति हो गई है जिनके विषय में जितना प्रकाश डाला जाय उतना अल्प ही होगा। संगीत के दोनों विभागों पर (शास्त्र तथा प्रयोगात्मक) उन्होंने इतना संशोधन, प्रकाशन तथा रचनात्मक कार्य किया है कि उसका संक्षिप्त में वर्णन करना असंभव है। जिस काल में उन्होंने इस कला के उत्थान के लिये प्रयत्न करने का निश्चय किया, उस समय यह कला निकृष्ट अवस्था में थी। अशिक्षित, व्यसनी कलाकारों के हाथ से उठाकर उसको सम्मान का स्थान प्राप्त कराने की दिशा में जो महान् कार्य पंडित जी ने किया वह अवर्णनीय है। यदि ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी कि संगीत कला तथा शास्त्र के पुनरुत्थान के लिये ही स्वयं भगवान् का अवतार भारत भूमि पर हुआ था। अनेक विद्वान् लेखकों ने तथा उनके अनुयायियों ने समय-समय पर उनके महत्कार्य तथा व्यक्तित्व पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। मुझे उनके प्रति अपनी भावनाओं को, अनुभवों को स्पष्ट रूप में प्रकट करना असंभव-सा लग रहा है। पंडितजी की सेवा में तथा सान्निध्य में इस तुच्छ जीवन के भी कुछ क्षण व्यतीत हुए हैं। उस अल्प समय में मेरे हृदय पर उनके व्यक्तित्व की महानता का जो परिणाम हुआ तथा समय-समय पर जो अनुभव प्राप्त हुए, उन्हें मैंने अपनी टूटी-फूटी भाषा में अंकित करने का निश्चय किया है। मैं नहीं जानता कि इसमें कहाँ तक सफल हो सकूंगा।

सन् १९२० में अपनी ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था में अपने जन्मस्थान सागर (म० प्र०) से ग्वालियर को संगीत शिक्षा ग्रहण करने मैं गया था। माधव संगीत महाविद्यालय की प्रथम कक्षा में शिक्षा प्राप्त करना आरंभ किया। मेरे प्रथम शिक्षक स्व० गु० भास्करराव खांडेपारकर थे। खांडेपारकर जी का पंडित भातखंडे जी से घनिष्ठ परिचय था। मैंने ऐसा श्रवण किया था कि उनकी ही मध्यस्थता से महाराजा माधवराव सिंधिया से भातखंडे जी का परिचय हुआ तथा ग्वालियर में संगीत विद्यालय स्थापना करने में खांडेपारकर जी का विशेष सहयोग रहा था। पंडित जी की उनके प्रति विशेष आदर की दृष्टि थी। १९२१ के अप्रैल मास में एक दिन मैंने कक्षा में श्रवण किया कि परीक्षा लेने के लिये बंबई से पंडित जी का आगमन कल हो रहा है तथा परसों से प्रातःकाल में परीक्षाएँ आरंभ होंगी। अल्प आयु के कारण मेरा हृदय भय से काँपने लगा। मैं सोचने लगा, किस प्रकार परीक्षा होगी ? मैं कैसे उनके सम्मुख अपने अल्प गायन की परीक्षा दूँगा ?

दूसरे दिन प्रातःकाल हम परीक्षा-स्थान पर उपस्थित हुए। कुछ ही समय पश्चात् एक शासकीय घोड़ागाड़ी से एक दिव्य पुरुष ने नीचे पदार्पण किया। सर्वप्रथम मुझे ही उनका दर्शन प्राप्त हुआ। इनके व्यक्तित्व का मेरे मन पर जो प्रभाव पड़ा, उसे मैं अभी तक

आवाज लगानी चाहिये आदि की शिक्षा स्वयं गाकर तथा अनेक बार विद्यार्थियों से भी गवाते जाते थे। कौन से राग में किन स्वरों को और किस प्रकार से प्रधानता देना है आदि प्रमुख कलापूर्ण बातों को स्वयं गाकर उसकी नकल करने के लिये कहते थे। गीत की स्थायी और अन्तरा ही वे ऐसी कुशलता से गाते कि सारी सभा मुग्ध हो जाती थी। वातावरण नादमय हो जाता था। किसी दिन उच्चवर्गीय विद्यार्थियों की जोड़ियों का गायन उनके सम्मुख होता था। उस समय ऐसी प्रथा थी कि कक्षा के सभी विद्यार्थियों की जोड़ियाँ कंठ सादृश्य तथा योग्यतानुसार निश्चित की जाती थीं। उन्हें प्रत्येक बार साथ साथ ही गायन करना पड़ता था। परीक्षाएँ भी दोनों की साथ-साथ होती थीं।

कभी-कभी रियासत के दरबारी तथा अन्य श्रेष्ठ कलाकारों का गायन-वादन पंडितजी के सम्मुख होता था। इन कलाकारों के नाम साधारणतः इस प्रकार हैं—उमराव खाँ (प्रसिद्ध तानरस खाँ के पुत्र), हफीज अली खाँ, लाल खाँ, पर्वतसिंह पखवाजी आदि कलाकारों का गायन-वादन विद्यालय के प्रांगण में होता था। एक बार गु० भातखंडे जी वयोवृद्ध प्रसिद्ध गायक तथा हद्दु-हस्सुखाँ की परंपरा के अनुयायी स्व० शंकर पंडित के निवास-स्थान पर उनसे मिलने तथा गायन श्रवण करने के लिये स्वयं गये थे। उस समय श्री शंकर पंडित अत्यंत बीमार थे। किन्तु कुछ समय तक गायन सुनाकर उन्होंने उसी अवस्था में पंडितजी का स्वागत किया। इसी प्रकार स्व० श्री बाला गुरुजी तथा स्व० श्री पन्ना गुरुजी, जो ग्वालियर दरबार के सरदार होते हुए भी अत्यंत सुयोग्य वृद्ध गायक थे, उनके निवास-स्थान पर भी मिलने गये थे। बाला गुरुजी भी अनेक बार विद्यालय में पंडितजी से मिलने आते रहते थे। पंडितजी के कार्य की वे बहुत सराहना करते थे।

माधव संगीत विद्यालय के शिक्षकों में गु० राजाभैया पूछवाले पर पं० भातखंडे का विशेष प्रेम था। मैं जब उच्च वर्ग में राजाभैया के पास शिक्षा ग्रहण कर रहा था तब मैं तथा मेरे सहाध्यायी मित्र श्री गोविंद नारायण नातू (वर्तमान अध्यक्ष मैरिस म्यूज़िक कालेज, लखनऊ) अनेक बार प्रातःकाल में पंडितजी के दर्शनार्थ राज्य के अतिथि-भवन में जाते थे। तब पंडितजी अनेक बार कहते थे, 'इस विद्यालय में श्री राजाभैया एक अत्यंत सुयोग्य गायक तथा शिक्षक हैं। उनसे अधिक-से-अधिक शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न करो। ऐसे निस्वार्थ तथा प्रेम से विद्यादान करनेवाले शिक्षक सँगीत के कलाकारों में बिरले ही होते हैं। तुम्हारा परम सौभाग्य है कि ऐसे गुरु तुम्हें प्राप्त हुए हैं। ऐसा सुअवसर हाथ से मत खोना।'

सन् १९२३ में परीक्षा के समय पर संगीत-प्रेमी तथा लेखिका अतिया बेगम साहिबा पंडितजी से मिलने तथा विद्यालय का निरीक्षण करने के लिये ग्वालियर पधारी थीं। उनके सम्मुख मेरा तथा श्री गो० ना० नातू का युगल-गायन तथा अन्य विद्यार्थियों का भी गायन हुआ था। गायन-समाप्ति के पश्चात् पंडितजी ने बेगम साहिबा से कहा—'खानदानी कलाकारों के बालकों के समान गायन करनेवाले बालकों का निर्माण इस विद्यालय में नवीन शिक्षा प्रणाली द्वारा करने का श्रेय यहाँ के शिक्षकों को ही है। इसे अवलोकन कर मुझे अब विश्वास हो गया है कि नवीन सामूहिक शिक्षा पद्धति तथा नोटेशन पद्धति संगीत शिक्षा में अत्यंत लाभदायक सिद्ध होगी।'

माधव संगीत विद्यालय ग्वालियर की नवीन शिक्षा प्रणाली का निरीक्षण तथा अध्ययन करने के लिए देश-विदेश से अनेक विद्वान् संगीतज्ञ समय-समय पर आकर वहाँ की शिक्षा प्रणाली व उसके परिणामों को देख कर आश्चर्य चकित, प्रभावित तथा संतुष्ट होते थे।

भातखण्डे जी ने शंकरराव पंडित के भाई एकनाथ पंडित से जब वे बम्बई में आये थे तब ग्वालियर शैली के प्रसिद्ध ख्यालों को प्राप्त कर लिपिबद्ध किया था। उनकी शुद्धता की पुष्टि कराना तथा उनको पुस्तक रूप में स्वरलिपि सहित प्रकाशित करने के पूर्व अन्तिम रूप प्रदान करना आवश्यक था। राजाभैयाजी ग्वालियर ख्याल-परंपरा के अनुयायी तथा शंकर पंडित के शिष्य थे। उनसे ऐसे ख्यालों को सुनकर शुद्ध करने का पं० भातखण्डे का कार्य ग्वालियर में प्रायः चलता ही रहता था।

सन् १९२३ के ग्रीष्म काल में पंडितजी ने राजाभैया तथा विद्यालय के अन्य सुयोग्य शिक्षकों के साथ हरिद्वार में गंगाजी के पवित्र तट पर एक-डेढ़ मास निवास कर ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध ख्याल, ध्रुवपद, तरानों को स्वरलिपिबद्ध करने का तथा उनको शुद्ध स्वरूप देने का कार्य संपन्न किया था।

पंडित जी ऐसे समय पर उन गीतों की भाषा में अथवा राग स्वरूपों में अशुद्धियाँ पाते ही उन्हें शुद्धरूप देने की चेष्टा करते, किन्तु राजाभैया अपनी परंपरा के स्वाभिमानी होने के कारण उनमें परिवर्तन करने के लिये स्वीकृति नहीं देते थे। ऐसे समय पर पंडित जी हास्यमुख से कहते, "भैया ! आज आप इस शुद्धि के लिये तैयार नहीं हैं। किन्तु एक दिन ऐसा आयेगा कि जब स्वयं आप ही रागों के स्वरूप तथा भाषा की शुद्धि के लिये मुझे बाध्य करेंगे। आज मैं आपके आग्रह से ऐसी ही चीजें प्रसिद्ध करता हूँ जैसी आपकी परंपरा में हैं।' पश्चात् कुछ वर्ष बाद स्वयं राजाभैया ने स्वानुभव से पंडित जी को चीजों के रागस्वरूप तथा भाषा शुद्धि के लिये प्रार्थना की थी। यह बात मुझे राजाभैया जी से ही विदित हुई।

सन् १९२४ में विद्यालय के प्रथम पदवीदान समारोह का आयोजन किया गया। अध्यक्ष स्थान महाराजा माधवराव सिंधिया ने ग्रहण किया था। उसमें महाराजा की ओर से निःस्वार्थ सेवा तथा समय-समय पर निरीक्षण कर योग्य सूचनाएँ समर्पित करने के उपलक्ष में पं० भातखण्डे जी का अभिनन्दन किया गया। मूल्यवान् वस्त्र तथा थैली अर्पण की गई थी और महाराजा ने मुक्तकंठ से उनके कार्यों की प्रशंसा की थी।

सन् १९२४-२५ के दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में लखनऊ में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन का आयोजन पं० भातखण्डे जी के नेतृत्व में किया गया था। उसमें प्रमुख प्रबंधक रामपुर रियासत के तत्कालीन हिज हाईनेस नवाब साहब, राजा नवाबअली खाँ, राय राजेश्वर बली तथा राय उमानाथ बली साहब (वर्तमान उपाध्यक्ष भातखण्डे संगीत विद्यापीठ, लखनऊ) थे। अखिल भारतीय सम्मेलनों के पं० भातखण्डे जी मुख्यमंत्री (जनरल सेक्रेटरी) थे। माधव संगीत महाविद्यालय ग्वालियर से कुछ उच्च श्रेणी के विद्यार्थी राजाभैया जी के संरक्षण में रियासत की ओर से भेजे गए थे। उस सम्मेलन में भातखण्डे जी के कार्य तथा व्यक्तित्व की महानता का पूर्ण परिचय लेखक को प्राप्त हुआ। सम्मेलन में

उत्तर-भारत के समस्त तथा दक्षिण भारत के कुछ कलाकार उपस्थित थे। उत्तर भारतीय रियासतों के अनेक गायक-वादक अपनी-अपनी रियासत की ओर से उपस्थित थे। बड़ौदा, ग्वालियर, इन्दौर, धौलपुर, जयपुर, रामपुर, मैहर, अलवर, पटियाला, गिद्धौर आदि रियासतों के तथा बनारस, लखनऊ, इलाहाबाद, कलकत्ता, गौरीपुर, दिल्ली, मथुरा आदि अनेक संगीत प्रसिद्ध नगरों के कलावन्त उपस्थित थे। वर्तमान समय में जो संगीत सम्मेलन हो रहे हैं उनसे लखनऊ के विगत सम्मेलन का कोई साम्य नहीं है। आज के सम्मेलनों का ध्येय तथा जो विकृत स्वरूप विद्यमान है, वह उस समय के सम्मेलनों में कदापि नहीं था।

१६२४-२५ के लखनऊ के सम्मेलनों में किन-किन महान् कलाकरों ने भाग लिया था, उसका स्मरण मुझे इस समय पूर्ण रूप से नहीं है। किन्तु जो कुछ याद है उसके आधार पर जानकारी दे रहा हूँ। खाँ साहब अलाबन्दे खाँ, जाकिरुद्दीन खाँ, नासिरुद्दीन खाँ, महमदअली-खाँ जयपुर; आशिकअली खाँ जयपुर; फैयाज खाँ बड़ौदा; कृष्णराव पंडित ग्वालियर, चन्दन चौबे मथुरा; वजीर खाँ मुहम्मदअली खाँ, मुश्ताकहुसेन रामपुर, मुराद खाँ इन्दौर; अलाउद्दीन खाँ मैहर, इमदाद खाँ, मास्टर श्रीकृष्ण (डा० श्रीकृष्ण रातांजनकर), दिलीप-चन्द्र बेदी, गोपेश्वर बनर्जी, भगवानदास (पखवाज), लाला झल्ली (टीकमगढ़ पखवाज), पं० बीरू मिस्सर बनारस, मनमोहन ( सितार ), धौलपुर आदि अनेक धुरन्धर कलावन्त उपस्थित थे।

पं० भातखण्डे जी के साथ श्री भालचन्द्र सीताराम सुकथनकर, शंकरराव कार्नाड़, वाड़ीलाल शिवराम, द० के० जोशी आदि उनके मित्र तथा शिष्य उपस्थित थे।

प्रतिदिन सम्मेलन के उपरान्त या प्रथम अनेक कलावन्त पंडित जी के निवास-स्थान पर संगीत शास्त्र तथा रागों के स्वरूप निर्णय सम्बन्धी चर्चा करने के लिए उपस्थित होते थे। कभी-कभी गायक-वादकों का गायनवादन भी होता था। मैंने खाँ साहब अलाउद्दीन खाँ का सरोद वादन तथा करामत खाँ साहब जयपुर का गायन प्रथमतः पंडित जी के निवास स्थान पर ही सुना था। करामत खाँ पंडित जी के गुरु भी थे। उनकी आयु उस समय ६० वर्ष के लगभग थी। किन्तु उन्होंने मुलतानी के आलाप इस मधुरता से तथा कौशलपूर्ण किए कि वैसे आलाप मैंने अपने जीवन में पुनः कभी नहीं सुने।

सम्पूर्ण सम्मेलन में पं० भातखण्डे जी के व्यक्तित्व का प्रभाव था। सभी कलावन्त तथा सुशिक्षित समाज आपकी ओर आदर तथा श्रद्धा से देखता था। सन् १६२४-२५ के संगीत सम्मेलन सचमुच अपूर्व हो गए हैं। ऐसे सम्मेलन वर्तमान समय तक फिर कभी नहीं हुए, ऐसा जानकारों का मत है।

सन् १६२६ में माधव संगीत विद्यालय की पंचम वर्ष की अन्तिम परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् मैंने पंडित जी को अपने निवास स्थान (सागर) से पत्र लिखकर पंडित जी की सेवाएँ कर उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा प्रगट की। उसके उत्तर में उन्होंने मुझे आदेश दिया 'मैं गवैय्या नहीं हूँ। तुम्हें किसी ऐसे गायक के पास जाकर उच्च शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो तुम्हें उत्तम प्रकार से गायकी की तालीम दे सके तथा गला तैयार करवाकर कलात्मक वस्तुओं की शिक्षा प्रदान कर सके। लखनऊ में एक नवीन संस्था

स्थापित हुई है। वहाँ मेरे शिष्य श्रीकृष्ण नारायण रातांजनकर गये हैं। उनके सान्निध्य में यदि तुम रहोगे तो तुम्हारी इच्छा सफल होगी।' इस उद्देश्य पूर्ति के लिए भातखण्डे जी ने लखनऊ मैरिस म्यूज़िक कालेज में शिक्षक के पद पर मेरी नियुक्त की। इसी वर्ष अर्थात् १९२६ के अक्टूबर में मैं लखनऊ कालेज में उपस्थित हुआ। उस समय श्री द० के० जोशी संपादक संगीत क्रमिक पुस्तकमालिका के कनिष्ठ भ्राता श्री माधवराव जोशी कॉलेज के प्रिंसिपल थे। श्री द० के० जोशी भी लखनऊ में अपने भाई के साथ रहकर प्राथमिक कक्षाएं लेते थे। शिक्षकों में डॉ० रातांजनकर, श्री नातू, लेखक, सखाराम जी, उस्ताद सखावत हुसैन खाँ, उस्ताद आविद हुसैन खाँ, उस्ताद हमीद हुसैन खाँ के अतिरिक्त कुछ अन्य सज्जन भी थे।

गु० भातखण्डे जी वर्ष में दो बार लखनऊ में वास्तव्य करते थे। अक्टूबर से दिसम्बर तक तथा मार्च से अप्रैल तक। प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक पंडित जी, डा० रातांजनकर तथा मैं कालेज के छात्रावास में ही रहते थे। जब तक भातखण्डे जी लखनऊ में रहते थे, उनकी सभी आवश्यकताओं की ओर ध्यान रखने का तथा उनकी पूर्ति करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। हम तीनों का भोजन, जलपान साथ ही होता था। सुबह ८ से १० बजे तक पंडित जी से मिलने के लिए अनेक संगीत प्रेमी सज्जन तथा कॉलेज के छात्र आते थे। उनसे संगीत विषयक चर्चा होती थी। सायंकाल में कालेज की कक्षाओं का निरीक्षण, कभी-कभी स्वयं शिक्षा प्रदान करना, शिक्षकों को शिक्षाविधि के सम्बन्ध में सूचनाएँ देना आदि चलता था। कालेज में प्रत्येक शनिवार को शिक्षकों, छात्रों तथा आमन्त्रित अतिथियों का गायन-वादन पंडित जी की उपस्थिति में होता था।

मैरिस म्यूज़िक कालेज के तत्कालीन अध्यक्ष, ठाकुर राजा नवाबअली खाँ साहब तालुकेदार अकबरपुर से पंडित जी की घनिष्ट मित्रता थी। लखनऊ महाविद्यालय स्थापित होने के पूर्व से ही संगीत विषयक पत्र व्यवहार इन दोनों में चलता था। कभी-कभी ठाकुर नवाब अली खाँ साहब कालेज में पधारकर पंडित जी से वार्तालाप करते और गायन-वादन के कार्यक्रमों में सम्मिलित होते थे। विद्यालय की स्थापना के दो-तीन वर्ष पश्चात् ठाकुर साहब की मृत्यु हो जाने से एक अत्यन्त हितैषी, संस्थापक, सहायक से विद्यालय को वंचित होना पड़ा। उनके पश्चात् विद्यालय का अध्यक्ष पद श्री राय राजेश्वर बली, तालुकेदार दरियाबाद, शिक्षा मंत्री संयुक्त प्रान्त ने सुशोभित किया। राय उमानाथ बली साहब विद्यालय के सचिव थे।

लखनऊ के उनके प्रवास में कालेज समाप्ति के पश्चात् प्रतिदिन भोजनोत्तर रात्रि के नौ बजे से दस-साढ़े दस बजे तक डॉ० रातांजनकर तथा मैं पंडित जी के कमरे में बैठकर वार्तालाप, संगीतशास्त्र तथा गायन सम्बन्धी चर्चा उनके मुख से श्रवण करते थे। पश्चात् पंडित जी लेखन कार्य करने के लिए प्रस्तुत होते। उन दिनों में वे संगीत शास्त्र का चौथा भाग लिख रहे थे।

पंडित जी ने अपने जीवन काल में अनेक प्रसिद्ध एवं उच्च श्रेणी के कलावन्तों का गायन-वादन श्रवण किया था। अनेक संगीत विद्वानों से शास्त्र पर चर्चाएँ की थीं। अपने अनुभवों का वर्णन प्रसंगवशात् रात्रि के वार्तालाप में हमारे सम्मुख करते थे। गायनवादन

का विश्लेषण, गायन शैली की खूबियाँ तथा अपने स्वानुभवों की कहानियाँ सुनाते थे। कलावन्तों की आपसी स्पर्धा, ईर्ष्या आदि का वर्णन उनके मुख से सुनते समय हम लोग तल्लीनता से श्रवण करते रहते। पंडित जी की वर्णन करने की शैली अप्रतिम थी। हम लोगों को समय का भी विस्मरण हो जाता था।

भातखण्डे जी का स्वभाव अत्यंत सरल, विनोदी तथा कुछ संकोची था। सेवकों को आप बड़ी सभ्यता से आज्ञा देते तथा कोई भी बात शांत चित्त से कहते। मैंने उन्हें कभी भी क्रोधित होते हुए नहीं पाया। वाद-विवाद में भी ये अत्यंत सौम्य शब्दों का प्रयोग करते हुए स्मित मुख से अपने सिद्धान्तों को समझाने का यत्न करते थे। कभी-कभी कोई रूढ़िवादी, परम्परावादी कलावन्त नोटेशन द्वारा घरानों की चीजों के प्रकाशन के लिए उनसे कटु शब्दों का व्यवहार भी करते, तथापि पंडित जी स्मित, सौम्य और शान्त मुद्रा से प्रतिवाद करते थे। ऐसे अवसर मेरी उपस्थित में एक-दो बार आये थे। उस समय पंडित जी के स्वभाव की महानता का ही परिचय मिला।

पं० भातखण्डे जी हृदय से अत्यन्त कोमल, भावुक तथा ईश्वर पर अटल विश्वास रखने वाले थे। उनके उपास्य देव वाराणसी के काशी विश्वनाथ थे। किन्तु यह रहस्योद्-घाटन उन्होंने कभी होने नहीं दिया। एकान्त में स्फटिक मोतियों की माला लिए ईश्वर का नामस्मरण करते दिखाई देते थे। पंडितजी का भोजन भी सात्विक तथा अत्यन्त संतुलित था।

कुछ दिनों से इधर पंडित जी को कानों से थोड़ा कम सुनाई देता था। किन्तु गायन वादन के श्रवण में इससे कोई बाधा नहीं होती थी। एक दिन एक शिक्षक की गायन शिक्षा का निरीक्षण करते समय शिक्षक ने, इस धारणा से कि पंडित जी को कम सुनाई देता है, विद्यार्थियों से शुद्धविकृत स्वर कहलवाना आरम्भ किया। किन्तु धीरे-धीरे स्वयं भी उनके साथ गुन-गुनाने लगे। पंडित जी के ध्यान में सब कुछ आ गया। पर कक्षा में उन्होंने किंचित् भी इस बात का परिचय नहीं होने दिया। रात्रि में भोजन के समय पर इसी बात को पंडित जी ने हँसते-हँसते हम लोगों को बतलाया कि 'खाँ साहब मुझे बहिरा समझ रहे थे।'

पंडित जी ने जिन श्रेष्ठ कलाकारों का गायन-वादन भूत-काल में श्रवण किया था, उसका स्मरण आते ही वह उनके कानों में गूँजना आरम्भ हो जाता था। अनेक बार हम लोगों को बताते कि, किस कलाकार के गायनवादन की ध्वनि वे अपने कान से स्पष्टतः सुन रहे हैं। इससे अनेक बार उनके चालू कार्य में रुकावट भी पड़ती थी। ऐसा उन्हीं कलाकारों की कला के विषय में होता, जिनकी कला उन्हें अत्यन्त प्रिय थी।

पंडित जी को भ्रमण में अत्यन्त रुचि थी। महीने-दो महीने तक एक स्थान पर रहने के पश्चात् उन्हें स्थानान्तरण की इच्छा होती थी। अनेक बार अचानक पिकनिक का आयोजन करते हुए एक-दो दिन के लिये स्थानांतर करते थे। ऐसे कुछ प्रसंगों पर भातखण्डे जी तथा रातांजनकर जी के साथ मुझे भी इस कार्यक्रम में सम्मिलित होने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

गु० भातखण्डे जी का उनके प्रिय शिष्य रातांजनकर जी पर विशेष अनुराग था।

उनकी शास्त्रीय तथा क्रियात्मक निपुणता पर उन्हें संतोष और विश्वास था। इन्हीं पाँच-छः वर्ष की अवधि में उन गुरु-शिष्यों का परस्पर प्रेम, श्रद्धा, आदर का बेजोड़ उदाहरण मैंने निकट से देखा है। मैरिस म्यूजिक कालेज की स्थापना का उनका आंतरिक उद्देश्य अपने सुयोग्य शिष्य की सहायता से नूतन शिक्षा प्रणाली तथा अपनी पद्धति का प्रचार कराना ही था। पंडित भातखण्डे जी ने अपने लक्ष्य-संगीत ग्रंथ में लिखा है :

नूतनशिष्यापेक्षयादौ स्युरिष्टा योग्यशिक्षकाः।
अध्यापयिष्यंति तेऽमुं विषयं सम्यगेव हि॥
ग्रन्थस्योद्देश आदौ स्यादस्य शिक्षकनिर्मितिः।
शिष्यानध्यापयिष्यंति तादृशाः शिक्षकास्ततः॥

अर्थ—नूतन शिष्यों की अपेक्षा योग्य शिक्षकों की आवश्यकता अधिक है जो इस विषय को उत्तम (पद्धतिनुरूप) रीति से सिखा सकें। इस ग्रन्थ का उद्देश्य मुख्यतः ऐसे शिक्षकों को ही तैयार करना है। ऐसे सुयोग्य शिक्षक निर्माण हो जाने पर भविष्य में सुयोग्य विद्यार्थी भी बनते रहेंगे।

उनके द्वारा स्थापित विद्यालयों में लखनऊ का संगीत विद्यालय ही एक ऐसी संस्था थी जो पंडित जी के दीर्घ परिश्रमों के परिणाम में स्थापित हुई थी। यहीं पर उनकी पद्धति का समाज में पूर्णतया प्रचार तथा उनकी इच्छा की पूर्ति हो सकती थी। इसके पूर्व बड़ौदा, ग्वालियर में दो संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी। किन्तु उनका प्रबन्ध रियासतों के आधीन होने से सभी बातें पंडित जी की इच्छानुसार होने में अनेक बाधाएँ भविष्य में उपस्थित हो सकती थीं। लखनऊ संगीत महाविद्यालय उनकी सुयोग्य पद्धति से आदर्श शिक्षा प्रदान करने की इच्छा का साकार केन्द्र था। कारण उसकी संपूर्ण बागडोर उन्होंने अपने विद्वान् सुयोग्य शिष्य के हाथों में सौंप दी थी। विद्यालय पर आपका आंतरिक प्रेम था तथा उससे उन्हें अनेकानेक आशाएँ थीं। सन् १९३३ में जब अंतिम बार पंडित जी लखनऊ पधारे थे, एक दिन वार्तालाप के मध्य अचानक उन्होंने डा० रातांजनकर, श्री नातू तथा मेरी ओर दृष्टिपात करते हुए कहा, 'यह विद्यालय मेरा लगाया हुआ वृक्ष है। इसे तुम लोगों के हाथों में सौंप रहा हूँ। इसका निःस्वार्थ बुद्धि से रक्षण करना।' श्री नातू तथा मेरी ओर देखकर कहना जारी रखा 'मुझे विश्वास है तुम लोग बाबू (डा० रातांजनकर) को पूर्ण सहयोग देते रहोगे तथा विद्यालय की उन्नति कर उसे मॉडेल संस्था बनाओगे।' मैरिस कालेज के सचिव राय उमानाथ बली साहब भी पंडित जी के परामर्श से ही कालेज की व्यवस्था तथा नवीन योजनाओं को कार्यान्वित करते थे। उनकी पंडित जी पर अटल श्रद्धा थी।

गु० पं० भातखण्डे जी के सान्निध्य में मैंने जो समय व्यतीत किया, उसके आधार पर उनके स्वभाव, व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है।' अब उनके विचार तथा संशोधन कार्य आदि पर अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ लिखने का प्रयास कर रहा हूँ।

पंडित जी की गुरुमालिका उन्होंने अपनी क्रमिक पुस्तक भाग चार में प्रकाशित की है। वार्तालाप में जिन लोगों का उल्लेख अपने मुख से वे करते थे, उससे स्पष्ट हो जाता

है कि उनकी रुचि ध्रुवपद गायन शैली पर अधिक थी। आरम्भ में उन्होंने स्व०रावजी बुआ-बेलबागकर से शिक्षा प्राप्त की थी। रावजी बुवा एक उत्तम ध्रुवपद गायक थे। बाद में जयपुर, रामपुर में बहुत दिन तक निवास कर उन्होंने ध्रुवपद गायन शैली को तथा अनेक ध्रुवपदों को हस्तगत किया। विशेष रूप से जयपुर के खाँ साहब मुहम्मद अली खाँ कोठीवाल, नवाब साहब रामपुर, साहबजादा सादतअली खाँ, गिधोर वाले मुहम्मद अली खाँ, वजीर खाँ—ये सभी तानसेन के वंशज तथा ध्रुवपद शैली के परंपरानुयायी थे। पं० भातखण्डे जी के गले से ध्रुवपद शैली के आलाप श्रवण करने का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पंडित जी ने ख्यालशैली की शिक्षा प्राप्त नहीं की थी। मैंने उनके मुख से अनेक ख्यालों को भी सुना है। ख्याल को किस ढङ्ग से गाना चाहिए, उसके शब्दों को कहाँ तोड़ना चाहिए, कहाँ पर विश्राम लेना, कहाँ आवाज कड़ा करना, कहाँ मृदु करना, गीत के कौन से शब्द शीघ्र कहना, कौन से दीर्घ गाना आदि का प्रदर्शन वे स्वयं गाकर करते थे। केवल ख्याल का संपूर्ण अस्ताई-अन्तरा ही वे इस कौशल्यपूर्ण रीति से गाते कि श्रोतागण तल्लीन हो जाते थे। ख्यालगायन में शांति से गम्भीरतापूर्ण विलम्बित लय में गाया हुआ ख्याल तथा आलाप उन्हें अधिक रुचिकर थे। ग्वालियर शैली के विलम्बित ख्याल तथा उसकी भरत उन्हें विशेष प्रिय थी। तानबाजी से उन्हें अत्यन्त घृणा थी। इस विषय में उनका अपना मत हिं० सं० प० भाग ३, पृ० ३४३ पर इस प्रकार दिया है—"इस समय तानबाजी के शैतान ने हमारे संगीत में प्रविष्ट होकर बहुत कुछ नाश किया है। यद्यपि मैं स्वीकार करता हूँ कि हमारे देशी संगीत का लक्षण 'कामाचार प्रवृतित्वम्' भी है। किन्तु इसका अर्थ हमें ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए कि प्राचीन ग्रन्थों में बताये हुए नियम समाज की रुचि के अनुसार कुशल गायकों द्वारा परिवर्तित करते हुए जिस संगीत में नये-नये नियम सम्मिलित हुए हों वह संगीत ही देशीसंगीत है।' तानबाजी को वे 'तानाच्या भेंडोल्या' (तानकी भड़ीमार) कहते थे।

भातखण्डे जी की स्मरण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। प्रसंगवशात् किसी ग्रन्थकार या कलावन्त के विषय में वर्णन करते समय वर्ष-तिथि सहित जो वार्तालाप हुआ होगा उसका वर्णन वे इस प्रकार से करते, जैसे वह घटना आजकल की ही हो। लखनऊ विद्यालय के पुस्तकालय की व्यवस्था मेरे पास थी। पंडित जी उस समय शास्त्रीय भाग चार लिख रहे थे। कई बार उनको किसी पुस्तक की आवश्यकता पड़ती तो मुझे आदेश देते कि पुस्तकालय से अमुक पुस्तक ला दो।

पुस्तक हाथ में आतें ही वे इस प्रकार से प्रकरण, श्लोक ढूंढ़ लेते जैसे पुस्तक आज-कल में ही उन्होंने पढ़ी हो। एक प्रसंग पर उन्होंने किसी मासिक पत्रिका का वर्ष, मास, अंक नम्बर तथा विषय सहित उल्लेख कर उसे ढूंढ़ लाने के लिए कहा। मैंने पूछा, 'आपने उसे कब और कहाँ देखा है? आपको नम्बर आदि कैसे ध्यान में रहा? इधर कई दिनों से मैं यहाँ पर तो उसे नहीं लाया था।' पंडित जी ने उत्तर दिया—'दो-तीन वर्ष पूर्व प्रवास में एक सह-यात्री के पास मैंने वह अंक देखा था। किन्तु संकोचवश उस समय मैं उनसे माँग न सका।'

समय-समय पर बहुत से कलाकार किसी अप्रसिद्ध रागस्वरूप को सुनाकर राग का नाम तथा परिचय उनसे जानना चाहते। पंडित जी उसी रागस्वरूप के अनेक गीत स्वयं

सुनाकर उसी कलाकार से प्रश्न करते कि इन सब गीतों की आपके गीत या रागस्वरूप से साम्यता है या नहीं। उनकी इस क्रिया से कलाकार अत्यन्त प्रभावित हो जाते और उनकी योग्यता तथा श्रेष्ठता का लोहा मानते।

पंडित जी की कल्पकता, प्रतिभा तथा रागस्वरूप के अप्रतिम ज्ञान का परिचय उनकी स्वयं रचित सरगमें, लक्षणगीत, ख्याल, व ध्रुवपद आदि से भली-भाँति हो जाता है। अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध रागों में उनके स्वरचित लक्षणगीत तथा चीजों का ही आज रसिकों में विशेष प्रचार है।

वर्तमान समय में संगीत के कुछ ग्रन्थकार ऐसे दृष्टिगोचर हो रहे हैं जो अन्य ग्रंथकारों से कुछ अपनी बातें उसमें सम्मिलित कर किसी न किसी प्रकार से बनते हुए प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए अत्यन्त लालायित रहते हैं। पंडित जी का उदाहरण इससे कितना भिन्न है। उन्होंने चतुर पंडित, विष्णु शर्मा आदि उपनामों से ग्रंथ प्रसिद्ध किये। सभी क्रमिक पुस्तकें अपने मित्र श्री द० के० जोशी के नाम से प्रकाशित कराईं। क्या वे यह नहीं जानते थे कि उनका नाम बहुत दिन तक अज्ञात नहीं रह सकेगा। किन्तु उनका उद्देश्य महान् था। उनकी इच्छा थी कि लक्ष्य संगीत तथा हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पुस्तक रूप में प्रसिद्ध हो जाने पर इन ग्रंथों के विषय में लोकमत क्या है? समाज में उनकी कहाँ तक इज्जत हो रही है? शास्त्र की नींव पर समझाया हुआ वर्तमान संगीत सुशिक्षितों में कितनी प्रेरणा निर्माण कर रहा है? अपने प्रयास विद्वानों को यदि त्रुटिपूर्ण प्रतीत हुए तो निर्भीकता से वे उनका खंडन कर सकें। ऐसे खंडन-मंडन से ही सारे विवाद, श्रम, रूढ़िवाद सदा के लिए मिट जाने पर संगीत के लिए उचित वातावरण बनेगा ऐसा उनका मत था। किन्तु उनके विचार इतने निर्दोष एवं शास्त्र शुद्ध थे कि उनके जीवित रहने तक तो कोई भी उनके सामने टिक नहीं सका। सोने को पीतल कह देने की धृष्टता आज भी यदि कोई करेगा तो जौहरी उसकी परीक्षा अवश्य कर लेंगे। ऐसे जौहरियों का निर्माण करना ही उनका एकमात्र ध्येय था।

उन्होंने संगीत कला का पुनरुत्थान समाज के कल्याण के लिए किया। निरपेक्ष सेवाभाव से ही जीवन भर भारत की प्राचीन कला, जो लुप्त हो रही थी, उसे पुनः प्रकाश में लाकर समाज की वस्तु समाज को अर्पण कर दी। ग्रंथ प्रकाशित करने में जितना धन व्यय होता था, उसके अनुसार ही लागत मूल्य ही पुस्तक का निर्धारित करते थे। अपने स्वयं के लिये ग्रंथों द्वारा अल्प-सा लाभ भी कभी स्वीकार नहीं किया। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी कुल निजी संपत्ति अपने स्वबांधवों को अर्पण की थी। संगीत विषय के स्वलिखित समस्त ग्रंथों के प्रकाशन तथा उनके पुनर्मुद्रण की व्यवस्था के लिए एक ट्रस्ट की योजना बनाई थी। उसी को ग्रंथों के प्रकाशन तथा उनके आय-व्यय की व्यवस्था सौंप दी थी। पंडित जी ने अपनी अन्तिम इच्छा में यह स्पष्ट किया था कि यह जनता की निधि है। इससे जो लाभ होगा उसे संगीत के उत्थापन में व्यय किया जाये। उस समिति में भालचन्द्र सीताराम सुकथनकर, रातांजनकर, वाड़ीलाल शिवराम तथा अन्य सज्जन थे। किन्तु दुःख से लिखना पड़ता है, उन प्रकाशनों के अधिकार के विषय में इतना विवाद खड़ा हो गया कि जनता की निधि जनता के हाथों में न रह सकी। इतने बड़े महान् कार्य की परिणति इस प्रकार हो जाना इस देश का, हमारा, आपका, इस संगीत का ही दुर्भाग्य है।

# पंडितजी की अदालत में ध्रुवपद का मुकदमा

आचार्य गोविंद नारायण नातू, लखनऊ

हमारे जीवन में अनेक प्रकार की घटनाएँ होती रहती हैं, जिनका प्रभाव हमारे मन पर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उनमें अधिकतर तो ऐसी होती हैं, जिन्हें हम कालांतर में भूल जाते हैं। किन्तु कोई-कोई घटना हमारे मन पर अपना इतना प्रभाव छोड़ जाती है कि वह कभी भी धुंधला नहीं होता वरन् सदा-सर्वदा ताजा ही बना रहता है, मानो घटना कल ही घटित हुई हो। मेरी स्मृति में ऐसी ही कुछ घटनाएँ हैं, जिनके शाब्दिक चित्र मैं पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ।

सन् १९१९ की बात है। माधव संगीत महाविद्यालय स्थापित हुए लगभग डेढ़ वर्ष व्यतीत हुआ था। इसी वर्ष मैंने विद्यालय में प्रवेश किया। छमाही निरीक्षण के लिए पूजनीय श्री विष्णु नारायण भातखंडे जी आने वाले थे। तब तक मुझे पंडित जी के दर्शन नहीं हुए थे। मेरी उत्सुकता स्वाभाविक थी। साथ ही साथ संगीत-परीक्षा का पहला अवसर होने के कारण कुछ भय और घबराहट भी थी। एक दिन सूचना मिली कि भातखंडे जी कल आवेंगे और परसों से परीक्षा होगी। पंडित जी के दर्शन के लिए नियत समय से एक घंटा पूर्व ही उस दिन पाठशाला में पहुँच गया। डेढ़ घंटे राह देखने के पश्चात् लगभग ५॥ बजे पंडितजी पधारे। शिक्षक तथा विद्यार्थी स्वागत के लिए एकत्रित हुए थे। मैंने प्रथम बार पंडित जी का दर्शन किया। ६-६। फुट की ऊँचाई, गौर वर्ण, उन्नत तथा चौड़ा माथा, कीर नासिका, स्मित बदन, तेजस्वी नेत्र, पारसी ढंग का पगड़ी व दुपट्टा, श्वेत पतलून, बूट, हाथ में घड़ी—इस प्रकार की वेष भूषा से सुसज्जित एक मूर्ति गंभीर चाल से आकर खड़ी थी। देखते ही मन आनन्दित होकर श्रद्धा से भर गया। मेरे निजी अनुभव से यह थी पंडित जी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के प्रथम दर्शन की अमिट छाप।

सन् १९२० ! आज वार्षिक परीक्षा है। विद्यार्थीगण अपनी-अपनी पुस्तकें लेकर पाठों को उलट-फेर कर दुहरा रहे हैं। पंडित जी आ गए हैं। अब कुछ ही समय में परीक्षा आरंभ होगी। प्रथम वर्ष से आरम्भ किया जाएगा। मैं भी तो प्रथम कक्षा का विद्यार्थी हूँ। सूची में मेरा दूसरा नाम है। समझ नहीं पाता कि किस प्रकार के प्रश्न पूछे जाएँगे। पहले विद्यार्थी की परीक्षा आरम्भ हुई। उससे क्या-क्या प्रश्न किये जा रहे हैं, यह जानने के लिए परीक्षा-कक्ष के दरवाजे पर जाना चाहता था। आगे बढ़ा, किन्तु दरवाजे के पास हमारे शिक्षक डटे थे। एक हल्की डाँट खाकर उलटे पैर लौटना पड़ा। थोड़ी देर पश्चात्

मेरा नाम पुकारा गया। धड़कते हुए हृदय से परीक्षा-कक्ष में गया। संमुख पंडितजी, प्रधानाचार्य तथा एक और सज्जन विराजमान थे। पंडित जी ने प्रश्न पूछने आरंभ किये। स्वरज्ञान के विषय में उल्टे-पुल्टे कठिन प्रश्न थे। परीक्षा-प्रणाली ठीक ऐसी ही थी मानो किसी बैंक का खजांची सिक्के को उलट पलट कर और ठोंक बजाकर परखता हो। परीक्षा समाप्त हुई और मैं डबडबाई हुई आँखों से कमरे के बाहर आया। अब बात समझ में आती है कि पंडित जी कितने मार्मिक और कुशल परीक्षक थे।

सन् १९२२ ! मैंने विद्यालय की तृतीय कक्षा में प्रवेश किया है। प्रत्येक वर्ष की भाँति पंडित जी निरीक्षण के लिए आये हुए हैं। आज सायंकाल विद्यालय में संगीत कार्यक्रम आयोजित किया गया है। मुझे भी कार्यक्रम में भाग लेना है। सभा में पंडित जी के सम्मुख गाने का मेरा पहिला अवसर है। मन में घबराहट तो थी, किन्तु उतनी नहीं जितनी कि प्रथम परीक्षा के समय हुई थी। पिछले दो वर्षों में मैं पंडितजी के स्वभाव से बहुत कुछ परिचित हो गया था। इसी कारण भय कम था। फिर भी मन में शंका तो थी ही कि पता नहीं कैसे गा सकूँगा। मेरे गाने के पूर्व अन्य विद्यार्थियों की दो-तीन जोड़ियों का गायन हो चुका था। अब मेरी बारी आई। मेरे साथ मेरा एक सहपाठी भी था। हम दोनों ने केदार राग तथा खमाज की 'श्याम सुन्दर बनमाली' ठुमरी गाई। संयोग से कार्यक्रम सफल रहा। समाप्त होने पर देखा कि पंडित जी तथा शिक्षक वर्ग के मुखों पर हर्ष और समाधान की झलक है। पंडित जी ने मुझे पास बुलाया और मेरी पीठ थपथपाते हुए अत्यन्त प्रेमभरे शब्दों में कहा 'बाल ! तूं चाँगला गायला। मन लावून असाच अभ्यास करीत रहा।' उनके इन्हीं शब्दों के आशीर्वाद और प्रोत्साहन स्वरूप मैंने अपनी शिक्षा पूर्ण की ओर प्रर्याप्त ध्यान देकर विद्यार्थी-दशा में उस समय के छात्रवृत्ति पानेवालों में सबसे अधिक छात्रवृत्ति पाई। पंडित जी के उन प्रेमभरे शब्दों की गूंज आज भी समय-समय पर मेरे कानों को सुनाई देती है।

सन् १९२४ ! हम लोग विद्यालय की अन्तिम कक्षा में हैं। पिछले वर्ष पंडित जी ने हम लोगों को ध्रुवपद-गायन की अधिक शिक्षा देने के लिए उस समय के प्रधानाचार्य तथा मेरे वर्गशिक्षक स्व० गुरुवर्य राजाभैयाजी से विशेष आग्रह पूर्वक कहा था। परिणामस्वरूप सप्ताह में दो दिन हमें ध्रुवपद की विशेष शिक्षा देने का प्रबंध किया गया। हमारे ध्रुवपद शिक्षक ने हमें दो-तीन गीतों में भिन्न-भिन्न लय-प्रकार सिखलाए। हम लोगों ने भी आरम्भ में सब बातें पूर्णतया समझकर कंठस्थ कीं। शिक्षक को भी संतोष था। वैसे तो हमें पाठ्यक्रम के अनुसार सीखे हुए प्रत्येक राग का ध्रुवपद उसकी साधारण लयकारी दुगुन-चौगुन इत्यादि सहित याद था। किन्तु ध्रुवपद-शिक्षक हमसे अपने सिखलाए हुए २५-३० लय-प्रकार प्रत्येक ध्रुवपद में कराना चाहते थे। दूसरी ओर हम विद्यार्थियों की रुझान ख्याल तथा ठुमरी की ओर ही विशेष रूप से हो गयी थी। इसी कारण हम लोगों को लयकारी के हिसाब-किताब का पचड़ा २।, ३।।, ४।।। मात्राओं में याद रखना एक झंझट प्रतीत हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं। अर्थात् शिक्षक का आग्रह मानने के लिए हम में से कोई एक भी विद्यार्थी राजी न था। हाँ,

यह बात अवश्य थी कि हमलोग ध्रुवपद गायन-प्रणाली के लयकारी के तत्त्वों को भली-भाँति समझ गए थे। इस बात से तो हमारे शिक्षक भी सहमत थे। क्योंकि उदाहरण रूप में हम लोगों ने एक गीत में शिक्षक की आज्ञानुसार कुछ प्रकार गणित दृष्टि से करके दिखा दिये थे। परन्तु शिक्षक वस्तुस्थिति से परिचित होते हुए भी अपनी बात पर ही अड़े रहे। हमारा भी बचपन होने के नाते हम लोग भी ज़िद पकड़ गए। बात प्रधानाचार्य तक पहुंची। वर्गशिक्षक के नाते उन्होंने भी शिक्षक का पक्ष लेकर हमें बहुत समझाया, डाँट-डपट की, किन्तु हम टस से मस न हुए। अंत में यह मुकदमा पंडित जी की अदालत में पेश होना निश्चित हुआ। पेशी का दिन भी आ गया। प्रधानाचार्य जी ने पंडित जी को हम लोगों की ध्रुवपद शिक्षा का कच्चा चिट्ठा सुनाया, किन्तु पंडित जी उस समय मौन रहे। दूसरे दिन मैं और मेरा एक सहपाठी पंडितजी के निवासस्थान पर पहुंच गये। दूसरा कोई उस समय वहाँ न था। मैंने अवसर देखकर ध्रुवपद के मुकदमे का विद्यार्थी-पक्ष उनके सम्मुख रखा। उस समय भी पंडित जी सुन लेने के पश्चात् मौन रहे। हम लोगों से और दूसरी बातें करने लगे। थोड़ी देर बाद हम चले आए। दूसरे दिन हमारी कक्षा में आकर हम लोगों को सीखे हुए ध्रुवपदों में से एक ध्रुवपद सुनाने के लिए आज्ञा दी। हमारे गाना सुना देने के पश्चात् हम लोगों को घर जाने के लिए कहा। कक्षा के बाहर आकर हम लोग दरवाजे की आड़ में खड़े थे। हमारा अनुमान कि अब पंडित जी अपना निर्णय देंगे, बिलकुल ठीक था। वे प्रधानाचार्य जी से कह रहे थे, 'भैया ! (राजाभैयाजी) मुलांचें म्हणणें सयुक्तिक आहे. त्यांना रीत समजली आहे. त्यांचें बाहेर पड़ायचे थोड़ेच दिवस उरले आहेत। अश्यां स्थितीत मला वाटतें, आपण अधिक आग्रह धरूं न ये।' कितने सतुलित, निष्पक्ष तथा न्याय्य विचार थे उनके। मेरे मन में पंडित जी के प्रति आदर और श्रद्धा की मात्रा द्विगुणित हो गई।

सन् १९२९ ! पिताजी का देहांत हो जाने के कारण मेरे सिर पर घर का आर्थिक बोझ सम्हालने की विकट समस्या है। कहीं काम-काज की तलाश में था। मेरी संगीत की विद्यालयीन शिक्षा समाप्त हो चुकी थी। गु० राजाभैयाजी के घर पर अधिक शिक्षा और अभ्यास के लिए जाता था। मेरी नाजुक परिस्थिति उन्हें ज्ञात थी। उन्होंने मेरी यह परिस्थिति पंडितजी को अवगत कराई। पत्र व्यवहार से राजाभैयाजी और पंडितजी में विचार-विनिमय हुआ और मुझे पंडित जी लखनऊ ले आए। लखनऊ में १९२४ और '२५ में दो अखिल भारतीय संगीत परिषदें हो चुकी थीं। नगर में एक संगीत विद्यालय स्थापित करने का निश्चय हो चुका था। १९२६ के सितम्बर मास में विद्यालय स्थापित हुआ और मैं विद्यार्थीदशा से निकलकर संगीत शिक्षक बन गया। इसी उद्देश्य से पंडित जी मुझे कुछ समय पूर्व ही लखनऊ लाए थे। संस्था के आरम्भिक काल में कुछ वर्ष पंडित जी स्वयं लखनऊ रहकर कार्य का निरीक्षण करते रहे। लखनऊ आकर ही मुझे पंडित जी के निकट सहवास का लाभ मिला। सस्था की प्रारम्भिक दशा और विद्यार्थी गिने चुने ही थे। उस दृष्टि से काम बहुत ही थोड़ा था। बाकी समय पंडित जी के ज्ञानभंडार की बातों का लाभ और आनंद मिलता था। संस्था के प्रथम प्रधानाचार्य श्री रातांजनकर जी, मैं, दो-तीन अन्य सज्जन और पंडित जी एक ही स्थान में रहते थे। वार्तालाप में मुख्य विषय

संगीत ही होता, किन्तु पंडित जी की वार्तालाप अथवा प्रतिपादन शैली इतनी रोचक और मनोरंजक थी कि हम लोग मंत्रमुग्ध से सुनते न अघाते। वार्तालाप के बीच-बीच में वे ऐसे-ऐसे चुटकले सुनाते कि हम लोग हँसते ही रहते और समय किधर व्यतीत हो गया, यह पता ही न चलता। वह समय मेरे जीवन में अत्यन्त मूल्यवान् और अत्यधिक आनंद का था।

शिक्षा कार्य की दृष्टि से मुझे कुछ भी अनुभव न था। शिक्षकों में मैं ही सबसे छोटी उम्र का था। मुझे वर्ग में सिखलाने के लिए जाते हुए कुछ भय और संकोच लगता, क्योंकि मेरे सामने वाले सब विद्यार्थी मुझसे कहीं अधिक बड़े होने के कारण मेरे चाचा, मामा अथवा ताऊ के समान जँचने वाले थे। पंडित जी किसी दिन रातांजनकर जी के वर्ग में तो किसी दिन मेरे वर्ग में बैठ कर हम लोगों का कार्य देखते। वर्ग समाप्त होने पर मेरी त्रुटियों को बड़े प्रेम से समझाते। इतना ही नहीं, किसी-किसी दिन मुझे चुप बैठने के लिए कहकर स्वयं वर्ग सिखलाते। उनका यह कार्य मेरे लिए मूल्यवान् पाठ था। उनकी सिखलाने की रीति अत्यन्त सुगम और मनोरंजक थी। विद्यार्थी अल्पसमय में बातें समझकर अपेक्षित परिणाम भी तुरन्त दिखलाते। अनुभव के पश्चात मेरी समझ में आया कि पंडित जी असाधारण और मंजे हुए शिक्षक भी थे।

मुझे थोड़े प्रमाण में ही सही, किन्तु उनके भिन्न-भिन्न रूप के दर्शन हुए। मैंने उनका वक्तृत्व सुना, चर्चा सुनी, कुछ कलाकारों के गंभीर विषय पर वाद-विवाद भी दो-चार बार सुने, शिक्षा देने की पद्धति देखी, सोदाहरण वार्ताएँ भी सुनी थीं। प्रत्येक भूमिका से उनकी कुशाग्रबुद्धि और कुशलता का परिचय मिलता था। लेखक, रचयिता और शास्त्रकार के नाते संगीत जगत् में उनका परिचय किसे नहीं है? कुछ लोग यह कहते हुए भी पाए जाते हैं कि पंडित जी तो केवल शास्त्रकार ही थे, परन्तु क्रियात्मक दृष्टि से गायक नहीं थे। ऐसे व्यक्तियों से व्यर्थ का क्या वाद किया जाय? हाँ, उनकी यह बात सुनकर कुछ हंसी अवश्य आती है। किन्तु उन्हें दोष भी क्या दें, जबकि वे पंडित जी के कुछ भी संपर्क में न आए हों। उन्हें कोई बात समझाना अपना समय नष्ट करने के सिवाय कुछ भी नहीं है। ऐसे समय चुप रहना ही मेरी अल्प बुद्धि में ठीक है।

पंडित जी के संबंध में मेरे अनुभवों की यह स्मृति रेखाएं आज भी उतनी ही स्पष्ट हैं, जितनी पहले पहल चित्रित हुई थीं। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, वे धुंधली पड़ना तो दूर; अपितु अधिक गहरी होती जाती हैं।

# स्नेह के अथाह सागर पं० भातखण्डे

प्रो० विष्णु शामराव अत्रे, ग्वालियर

सन् १९२५ में जून की बात है। उस समय पंडितजी एस० एन० डी० टी० युनिवर्सिटी, बम्बई की ओर से संगीत परीक्षक की हैसियत से अहमदाबाद कालेज की परीक्षा के लिए प्रतिवर्ष आते थे। पं० श्रीकृष्ण रातांजनकर जो इस कालेज में संगीत अध्यापक का कार्य करते थे, कारणवशात् यह कालेज छोड़कर बड़ौदा चले गये। परिणामतः इस कालेज में संगीत अध्यापक की जगह खाली हुई।

अहमदाबाद कालेज के प्रिन्सिपल, जो पंडित जी के परम मित्र थे, उन्होंने पंडित जी से विनती की कि कालेज के लिए कोई योग्य संगीत अध्यापक की व्यवस्था कर दें। इस सिलसिले में पंडित जी ने श्री राजाभैया पूछवाले को पत्र लिखकर पुछवाया कि, ग्वालियर के अंतिम परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों में से अहमदाबाद जाने के लिए कोई तैयार हो तो उसका नाम और पता उनको जल्द भेज दो। राजाभैया ने मुझे बुलाकर भातखण्डे जी के पत्र का जिक्र किया और पूछा कि 'तू अहमदाबाद जाने को तैयार हो तो तेरा नाम और पता मैं पंडित जी को भेज दूँ।'

एक-दो दिन विचार करके अहमदाबाद जाने का अपना निश्चय राजाभैया को मैंने बता दिया। दस-बारह दिन के बाद ही अहमदाबाद कालेज के प्रिन्सिपल का नियुक्ति-पत्र मुझे मिला। पत्र के अनुसार मैं अहमदाबाद रवाना हुआ और दिनांक १०-८-१९२५ से कालेज में वर्ग सिखाना आरम्भ कर दिया। हमारे प्रिन्सिपल अच्छे विद्वान् और सज्जन गृहस्थ थे। उनको भातखण्डे जी ने पत्र लिखा कि—'विष्णु शामराव अत्रे ग्वालियर से अहमदाबाद आपके कालेज में आया है। उसकी उम्र अभी छोटी है। आप उसकी देखभाल अपने कुटुम्बी-जन की तरह करें।' उस पत्र का जिक्र करके प्रिन्सिपल साहब ने मुझे सान्त्वना देते हुए कहा 'किसी बात की फिक्र मत करना।' सचमुच वे अच्छी देखभाल रखते थे। ऐसी कि मुझे वहाँ पराये देश में कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं हुआ। इसी कालेज में सफलता पूर्वक पैंतीस साल तक मैंने सर्विस की और जुलाई १९६१ में वहाँ से निवृत्त होकर ग्वालियर वापिस आया। सम्प्रति मैं ग्वालियर में ही सुखी निवृत्त जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। यह सब भातखण्डे जी के ही आशीर्वाद का फल है।

सन् १९२६-२७ की बात है। मेरे अहमदाबाद जाने के बाद भातखण्डे जी परीक्षक के नाते वहाँ दो वर्ष आये। विद्यार्थियों को सुनकर संतोष व्यक्त करते हुए मुझे प्रोत्साहित करते थे। साथ-साथ यह भी सूचना देते थे कि 'अत्रे, तुम अभी जवान हो,

खूब रियाज करो। ग्वालियर के पासशुदा तुम विद्यार्थी लोग अभी गवैये नहीं हो, अगर सोच समझ कर और उच्चकोटि के गायकों को सुनकर अच्छा रियाज करोगे तो भविष्य में गवैये भी अवश्य बनोगे। ऐसा हो जाने पर एक बात ध्यान में रखो कि, तुम निरे गवैये ही नहीं हो, परन्तु संगीत के सुशिक्षित शिक्षक भी हो। तुमने सिर्फ गाना ही नहीं सीखा है बल्कि गाने के साथ संगीत का शास्त्र भी सीखा है।'

सन् १९१८ में जून की बात है। माधव संगीत विद्यालय की स्थापना की योजना निश्चित हुई। भरती के लिए एलान कर दिया गया कि आवाज की परीक्षा स्वयं पं० भातखण्डे जी करेंगे। बारह साल से लेकर पचीस-तीस साल की उम्र के लगभग दो-ढाई सौ लड़के इकट्ठे हुए। आवाज की परीक्षा के लिए पंडित जी ने अपने पास मुंह से बजाने की पाँच छः स्वरों की एक पाइप (छोटी सीटी) रखी थी। स्वयं अपने ही मुंह से सीटी में से अलग-अलग तीन-चार स्वर बजाकर विद्यार्थियों को उन स्वरों में आवाज मिलाने को कहा जाता था। यह परीक्षा लगभग तीन-चार घंटे तक चली और लगभग डेढ़-दो सौ लड़के आवाज की परीक्षा में पास होकर भरती किए गए। विद्यार्थियों को चार-पाँच कक्षाओं में बाँटा गया और सन् १९१८ में कपूकोठी ग्वालियर के एक भवन में हमारा विद्यालय चालू हुआ।

हमारी वार्षिक परीक्षा प्रथम वर्ष से लेकर अंतिम पंचम वर्ष तक स्वयं पंडित जी ने ही ली थी। प्रथम-वर्ष की परीक्षा में पास-शुदा समस्त विद्यार्थियों को आपने अपनी ओर से दो-दो रुपये पुरस्कार स्वरूप बाँटे थे।

सन् १९२१ की बात है। हम लोग चतुर्थ वर्ष में थे। पंडित जी निरीक्षण के लिए स्कूल में पधारे और सब विद्यार्थियों को इकट्ठा बुलवाया और कहा कि 'बच्चो, आज मैं तुमको श्रुति-स्वर का विषय समझाता हूँ।' श्रुतिस्वर के बारे में कुछ प्रश्न भी पूछे। श्रुति की व्याख्या, श्रुति कितनी हैं, श्रुति का विभाजन किस तरह हुआ है इत्यादि सभी प्रश्नों के जवाब हमने सही-सही दिये। हमारे जवाब सुनकर पंडितजी खुश होते हुए बोले कि 'अब मैं एक सप्तक में बाईस श्रुतियाँ गले से निकालकर सुनाता हूँ।' पंडित जी ने अपना एक स्वर षड्ज कायम किया और धीरे-धीरे रिषभ, गांधार, मध्यम की श्रुतियाँ गले से लगाते हुए प, ध, नि, की श्रुतियाँ बनाकर आखिरी स्वर तार-षड्ज लगा दिया। इस तरह बाईस स्वर सुनकर हम लोग तो आश्चर्यचकित हो गये। उस समय हम लोग तो विद्यार्थी ही थे। हमारे लिए इस तरह से बाईस स्वरों का निकालना तो एक असम्भव क्रिया थी।

पंडितजी को कान से कुछ कम सुनाई देता था। इसलिए गाना सुनने या किसी से बातचीत के वक्त कान में एक पाइप लगाते थे। पंडित जी की आवाज अच्छी लम्बी, पल्लेदार, पूरे तीन सप्तक की थी। मंद्र-सप्तक का षड्ज साफ-साफ लगाने के साथ अतितार षड्ज भी आसानी से लगाते थे। विद्यालय में हम विद्यार्थियों को बिलंबित ख्याल के अस्ताई, अंतरे, रागों की गायकी, ध्रुवपद-धमार की गायकी प्रायः सुनाते थे। अपने हाथ से ही ताल देकर धमार की गायकी दुगुन-तिगुन-आड़ आदि लय के विभिन्न प्रकार सुनाने में विशेष दिलचस्पी रखते थे।

हमारी पंचम वर्ष (फाइनल) की बारह विद्यार्थियों की बैच सन् १९२३ में उत्तीर्ण हुई। प्रमाण-पत्र-वितरण का समारंभ ग्वालियर के टाऊन हाल में स्व० महाराजा माधवराव सिंधिया के हाथों से हुआ। इस अवसर पर महाराजा साहब ने विद्यार्थियों का ख्याल-ध्रुवपद का गायन सुनकर संतोष व्यक्त किया और पं० भातखण्डे जी को उनके कार्य के लिए धन्यवाद दिया, उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

मैं स्वयं फाइनल की प्रथम बैच का विद्यार्थी हूँ। हम पासशुदा विद्यार्थियों को विशेष रूप से उत्साहित करने के लिये तथा भविष्य में संगीत-शास्त्र व इतिहास का हम लोग विशेष अध्ययन करते रहें, इस उद्देश्य से पंडितजी ने स्वयं अपनी तरफ से प्रत्येक विद्यार्थी को हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के प्रथम तीनों भाग, लक्ष्यसंगीत, अभिनवरागमंजरी, तालमंजरी, संगीत-रत्नाकर, संगीत पारिजात, स्वरमेलकला निधि जैसे महत्वपूर्ण आठ-दस ग्रंथ, जिनकी कीमत उस जमाने में पचीस-तीस रुपये थी; पारितोषिक रूप में दिये। पंडितजी के विशाल अंतःकरण का और हम विद्यार्थियों के प्रति प्रेमभावना का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है ?

स्व० पंडित भातखण्डे जी संगीत क्षेत्र में एक महान् तपस्वी थे, उच्चकोटि के विद्वान् और विशाल तथा उदार अंतःकरण के व्यक्ति थे।

नाद ब्रह्म में विलीन ऐसे स्व० पंडितजी की चिर-शांत आत्मा को, इस स्मृति-ग्रंथ द्वारा मैं यह शब्दरूप श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

## खानदानी परम्परा के वास्तविक संरक्षक

प्रो० बा० ना० मुण्डी, ग्वालियर

ग्वालियर के माधव संगीत विद्यालय का मैं सन् १९२७ से १९३२-३३ तक विद्यार्थी रहा हूँ। उस समय पण्डित भातखण्डे जी ही सारी कक्षाओं की परीक्षा लिया करते थे। परीक्षाएँ दिवाली के समय में स्थानीय टाऊन हाल के ऊपरी कक्ष में हुआ करती थीं। हम लोग आयु में काफी छोटे होने से ( मैं केवल पंद्रह वर्ष का था ) केवल परीक्षा समय में ही पंडितजी के सम्पर्क में आते थे। किन्तु फिर भी उनके स्मरणमात्र से उनका व्यक्तित्व, उनका पांडित्य, उनके द्वारा संगीत के विकास के लिए किए हुए अथक् एवं अनवरत परिश्रम, उनकी अपने स्वीकृत कार्य के प्रति दृढ़ आस्था एवं लगन, उनका सरल सीधा-साधा मिलनसार स्वभाव, भाषण की आकर्षकता तथा प्रभावोत्पादकता, रहन-सहन, वेषभूषा, खान-पान की सादगी आदि जो बातें सुनने में आतीं अथवा दिखाई देतीं; वे आज भी साकार होकर सामने आ जाती हैं। उन अनेक में से कम से कम दो बातें तो ऐसी हैं कि आज भी उनका महत्व कम नहीं है। अतः उन्हें संस्मरण के रूप में समझा जाए अथवा कि उनके विचारों की उपदेशों की इच्छा-आकांक्षाओं की पुनराभिव्यक्ति कहा जाए। कुल परंपरागत संगीत

विषय में रुचि, संस्कृत की थोड़ी बहुत जानकारी के कारण संगीत शास्त्र के अध्ययन में रुचि एवं गति और कुछ प्रत्यक्ष अध्ययन इत्यादि कारणों से पं० भातखण्डे जी द्वारा उस समय कही हुई बातें अभी भी मन में पैठी हैं।

परीक्षा संभवतः दूसरी कक्षा की चल रही थी। विद्यार्थी यमन राग का विलंबित ख्याल, 'पलकन से झारूँ' गा रहा था कि उसने प्रारम्भ किया ही था, और पहला आवर्तन वह पुनः दोहरा रहा था। सम पर आते-आते उसने गीत के जो टुकड़े किए तथा शब्दों को तोड़ कर प्रत्येक अक्षर पर जिस ढंग से जोर दिया और सम ली, उस समय पं० भातखण्डे जी के मुख पर की भावभंगिमा उनकी आंतरिक पीड़ा का भेद व्यक्त कर देने के लिए पर्याप्त थी। सम पर आते ही विद्यार्थी 'झां' अक्षर पर जैसे धम्म से गिरा हो, वहाँ रुका, जैसा कि ख्याल में है। उसका दिया हुआ स्वराघात निश्चित ही खटकने वाला था। उस समय तो भातखण्डे जी कुछ बोले नहीं, उनका मौन ही उनकी प्रवृत्ति का, आंतरिक विचारों का परिचायक था। किन्तु इसी प्रकार की पुनरावृत्ति जब चौथी कक्षा के विद्यार्थी ने पूरिया का विलंबित ख्याल 'ए जियरा न रहे' तथा द्रुत ख्याल 'सपने में आए' गाते समय की, तब उनसे न रहा गया। परीक्षा के मध्य में ही भातखण्डे जी ने स्वर, भाव, शब्द, अर्थ, काव्य, रस आदि की विशेषताएँ; उनके पारस्परिक संबंध, रागमाधुर्य, राग प्रकृति, गायन के हेतु रस निष्पत्ति आदि का संक्षेप में स्पष्टीकरण किया। यह करते समय वे किंचित्मात्र भी भावावेशित नहीं थे, न ही किसी प्रकार नाराज़ थे। अत्यन्त प्रेम से समझाते हुए उन्होंने अपने विचार प्रकट किये। वह जितना महत्त्वपूर्ण उतना ही स्मरणीय था। शब्दों द्वारा अभिव्यक्त अंतरतम भावनाओं के यथार्थ को स्वरों में पकड़कर व्यक्त करते समय उनको विकृत होने से बचाना, उनके द्वारा मूल भावनाओं को और अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त कराना, यथोचित रस निष्पत्ति कराना, यही सच्चे गायक का वास्तविक कार्य है। कोमल भावनाओं के साथ तो वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिए, जैसा कि किसी कोमलतम पुष्प के साथ। अपनी आँखों की पलकों से अपने प्रियतम के आने के मार्ग को झाड़ने-बुहारने की कोमलता तथा हृदय को सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रेमभावों से उद्वेलित-आंदोलित करनेवाली शब्दावली को उतनी ही कोमल स्वरावलि से व्यक्त करना इष्ट एवं आवश्यक है। कठोर, रसहानिकारक स्वराघातों के द्वारा नहीं। सपने में अपने प्रियकर के आगमन से जिस प्रेयसी के 'सुख चैन की कल बिघर गई थी' वह अपने अंतस्तल की चाह को, पीड़ा को जब व्यक्त करती है तो कहती है :—

"हूँ जो चाहूँ, सदारंग, गहबे को,
पकर न सकी, कल उघर गई॥"

कैसी तीव्र पीड़ा है हृदय की। जैसे अमृत-कलश ओठों तक पहुँचा ही हो, कि कोई उसे उँड़ेल दे। ऐसी भावना को व्यक्त करने की शब्दावली, उसी के अनुकूल राग, राग की प्रकृति तथा गायन का संध्या समय जो विरह, शान्ति तथा मन की उदासी को व्यक्त करने की उचित वेला है—इन सब के समन्वय से यदि अभीप्सित रसनिष्पत्ति न हो सकी तो गायन का क्या स्वारस्य ? गायक यदि यह निर्माण नकर सका 'तो गायन का मूल उद्देश्य ही

विफल हो जाता है। उक्त परीक्षार्थी के कारण भातखण्डे जी के वे स्वर एवं शब्द, संगीत और काव्य के सम्बन्ध के मौलिक तथा पुरोगामी विचार सुनने को मिले। तात्पर्य, पंडित भातखण्डे जी ने भारतवर्ष में दूर-दूर घूमकर, परंपरागत उस्तादों के घरानों की बँधी चीजों को बड़े ही परिश्रम से तथा बड़ी कठिनाइयों के बाद प्राप्त किया। उन चीजों की मूल भावनाएँ एवं प्रकृति को किंचित् भी न बिगाड़ते हुए साथ ही देश-काल-परिस्थिति के अनुसार उनको उन्होंने स्वर-लिपि बद्ध किया। यही उनका महान् कार्य है। यह करते समय उन्होंने स्वर अथवा शब्द के प्रति अन्याय अथवा पक्षपात नहीं होने दिया। गीत गाते समय शब्द, अर्थ, भाव को पीछे ढकेलते हुए रस-हानि करना वे कभी पसंद नहीं करते थे। और न ही शब्दों के काव्य गुणों के कारण स्वर को भी पीछे रखना चाहते थे। दोनों का उचित समन्वय ही आवश्यक रसनिर्मिति कर सकता है—यही उनकी मान्यता थी। परीक्षा के समय भी उन्होंने इस प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष कर दिखाया। ये ही दो चीजें गाकर उन्होंने अपने विचार, अपनी बात प्रत्यक्ष में साकार सिद्ध कर दिखाई। वर्तमान में भी इस स्वर-काव्य-भाव का, संगीत, काव्य तथा चित्र का समन्वय कितना आवश्यक है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। भातखण्डे जी की यह इच्छा कहाँ तक पूरी हो सकी है—यह विचारणीय है।

दूसरी स्मरणीय बात थी संगीत के स्तरीकरण संबंधी (स्टैण्डर्डाइजेशन आफ इण्डियन म्यूजिक)। भारतीय संगीत का स्तरीकरण कर, उसके लिए कुछ मानदण्ड स्थिर करना वे उचित एवं आवश्यक मानते थे। भारतीय संगीत की परंपरा में कई घराने और कई उस्ताद हुए हैं। शैली की विभिन्नता एवं विचित्रता परिलक्षित होती है। किन्तु परंपरा की अति-आत्मीय भावनाओं के कारण जो विकृतियाँ घर किए हुए हैं, उसके कारण भारतीय संगीत को स्थिर पद एवं उचित तथा निश्चित मानदण्ड प्राप्त नहीं हो सका है। अपनी-अपनी विशेषताएँ कायम रखते हुए भी उचित समन्वय से किसी स्तर को निर्धारित करना परमावश्यक प्रतीत होता है। भारतीय संगीत के वर्तमान अनिश्चित तथा गिरते हुए स्तर को लक्ष्य करने से तो पंडित भातखण्डे जी की इस संबंध की विचार-धारा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। भविष्य में आनेवाली स्थिति को ध्यान में रखकर पहले से ही उसको आवश्यक एवं उचित मोड़ देने के लिए वे कैसे सजग तथा प्रयत्नशील थे; इस बात का परिचय परीक्षा के उस साधारण से प्रसंग में भी मिलता है।

श्रद्धेय स्वर्गीय पंडित राजाभैया पूछवाले जी की विशेष अनुकम्पा एवं कृपा से पं० भातखण्डेजी के साथ जो क्षणिक सहवास परीक्षा तथा उसके अतिरिक्त हुआ, वह जैसे कल ही हुआ हो, इतना ताज़ा, चित्रवत् अभी भी मन में है। ऐसे कितने ही संस्मरण हैं। किन्तु उन परमश्रद्धेय दिवंगत संगीत की महान् आत्मा की इस १००वीं वर्षग्रंथि के अवसर पर अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रस्तुत संक्षिप्त संस्मरण समाप्त करना ही उचित है।

# गुरु-शिष्य का अलौकिक प्रेम

श्री एम० के० सामन्त, वाराणसी

आज से लगभग ३५ वर्ष पूर्व मुझे श्री भातखण्डे जी से न केवल मिलने तथा सह-वास का, अपितु उन्हें अत्यन्त निकट से समझने का जो परम सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसे मैं एक दैवी संयोग ही कहूँगा।

लखनऊ के मैरिस कालेज की वार्षिक परीक्षाएं समाप्त होने के पश्चात्, जो उस समय दीपावली के आसपास ही हो जाती थीं, भातखण्डे जी ने इकबाल नारायण गुर्टू, एम० एल० ए० को पत्र लिखकर वाराणसी में पन्द्रह दिन व्यतीत करने की इच्छा प्रगट की। श्री गुर्टू जी ने हमारे एक संगीत प्रेमी मित्र एम० जी० कानिटकर को तथा मुझको यह समाचार दिया और अनुरोध किया कि हम दोनों ही भातखण्डे जी तथा उनके परम प्रिय शिष्य रातांजनकर के रहने की व्यवस्था अपने यहाँ ही करें। मैं उस समय वाराणसी स्थित 'बेसेन्ट थियोसौफिकल नेशनल स्कूल फार बॉयज' के छात्रावास का प्रबंधक था। अतः मैंने वहीं पर उन दोनों के रहने के लिये व्यवस्था कर दी। निर्धारित समय व दिन पर वे दोनों पहुँचे। आने के बाद स्वास्थ्य संबंधी प्रश्न तथा कुछ जलपान आदि करने के उपरान्त उन्होंने संगीत विषयक चर्चा प्रारम्भ कर दी। विद्यालयों में संगीत की शिक्षा का स्तर क्या होना चाहिये, विद्यार्थियों को उचित तालीम किस प्रकार से दी जानी चाहिये, रागों का वर्गीकरण कक्षाओं में विद्यार्थियों के सामान्य गायन स्तर के अनुसार कैसा होना चाहिये इत्यादि विषयों पर गहन चर्चा होने लगी। उन्हें देखकर व उनकी बातों को सुनकर ऐसा ही प्रतीत होता कि संगीत ही मानो उनका जीवन है, और जो यथार्थ भी था। संगीत जैसी पावन कला के हेतु उन्होंने अपना जीवन बिता दिया। इतने प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए तथा संगीत में हमसे कहीं अधिक जानकारी रखते हुए भी, हम लोगों से बातें करते समय वे हमारे मत को या हमारे दृष्टिकोण को इस प्रकार सुनते थे जैसे वह उनके लिये सर्वथा नवीन हो। ऐसी ही थी उनकी सरलता व स्वभाव की मधुरता।

सौभाग्यवश चूंकि इतने महान् कलाकार-द्वय हमारे यहाँ आये थे, तो उन्हें सुनने की उत्कट इच्छा हमारे मन में होना स्वाभाविक ही थी। परन्तु हम लोगों ने यही निश्चय कर लिया था कि हम स्वयं उनसे गाने के लिये नहीं कहेंगे। जब भी उनकी तबियत लगेगी वे स्वेच्छा से गायेंगे। दूसरी ओर रातांजनकर जी यह सोच कर मौन थे कि जब हम लोग कहेंगे तभी वे गायेंगे। फलस्वरूप दोनों ओर से शान्ति थी। तीन-चार दिन इसी प्रकार बीत गये। फिर एक दिन भातखण्डे जी से न रहा गया और उन्होंने रातांजनकर जी से कहा—'बाबू, कई दिनों से तुम्हारा गाना नहीं सुना। क्या बात है ? तुम शायद ये सोचकर चुप हो

कि सामन्त साहब जब कहेंगे तब गायेंगे और सामन्त साहब यह सोचते होंगे कि जब तुम्हारी तबियत लगेगी तब सुनेंगे। अब तुम लोग ही आपस में निश्चय कर लो।' इसका फल यह हुआ कि रातांजनकर जी ने तुरन्त तानपुरा निकाला और गायन प्रारम्भ किया। वे स्वर तो आज तक हृदय में हैं, उस अनुपम संगीत से प्राप्त वह आनन्द अवर्णनीय था। रातांजनकर जी के उस संगीत को सुनकर उसी समय हमारे इस भ्रम का निवारण हुआ कि भातखण्डे जी न केवल पण्डित थे वरन् महान् गायक भी थे, अन्यथा ऐसा शिष्य तैयार करना असंभव था। इस घटना के कुछ ही दिवस बाद स्वयं भातखण्डे जी ने हमें दरबारी के आलाप सुनाये, जिसमें उन्होंने तीनों सप्तकों का प्रयोग इतनी कलात्मकता व सुन्दरता से किया कि वर्णन करना कठिन है।

भातखण्डे जी की विशाल सहृदयता, उनकी सरलता का उदाहरण एक छोटी सी घटना से देता हूँ। हमारे एक दाक्षिणात्य मित्र हैं जो उस समय लगभग प्रतिदिन मेरे यहाँ आया करते थे। यद्यपि उनका शास्त्रीय ज्ञान अधिक नहीं था, तथापि कण्ठ बड़ा मधुर था, और वे अक्सर मेरे कमरे में कुछ न कुछ गाया-गुनगुनाया करते थे। भातखण्डे जी जब इन्हें सुनते थे तो बरबस उनके मुख से निकल पड़ता था—'अरे बाबू, देखो, ये कितना मीठा गा रहे हैं, कितने अच्छे सुर लग रहे हैं इनके' इत्यादि।

एक दिन तो भातखण्डे जी से न रहा गया और उन्होंने रातांजनकर जी से कहा, 'बाबू, इनको भैरवी की अमुक चीज सिखा दो, खमाज का अमुक टप्पा सिखा दो। इनके गले से बहुत अच्छा लगेगा।' रातांजनकर जी ने भी बड़े प्रेम से वे चीजें मेरे चित्रकार मित्र को सिखा दीं। भातखण्डे जी ने कितने बड़े-बड़े गायकों को, महारथियों को सुना और सुनाया था। फिर भी वही शिशु-सुलभ सरलता। वस्तुतः किसी अच्छी चीज को हृदय से सराहने का गुण उनमें वर्तमान था। मेरे मित्र के इस थोड़े से मधुर गाने पर वे इतना रीझ गये थे और इसी अवसर पर हमें उन गुरु-शिष्यों का प्रेम तथा मधुरता का सम्बन्ध जो देखने को मिला, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

एक दिन हम लोग यों ही बैठे-बैठे गाने पर चर्चा कर रहे थे। बातों ही बातों में मेरे मित्र कानिटकर जी ने ज़िक्र किया—आजकल अच्छे शिक्षकों के न मिलने से बच्चों को अच्छी तालीम देना मुश्किल हो गया है। चीजों की बन्दिश बच्चों के गले में ठीक से बैठाई नहीं जाती, इत्यादि। यह सुनते ही भातखण्डे जी ने रातांजनकर जी के मुख से क्रमिक पुस्तक माला के प्रथम भाग को सरगमों सहित यमन से तोड़ी तक की समस्त चीजें हम लोगों को अच्छी तरह सुनवाईं। गानों के साथ-साथ उन-उन रागों के बारे में, उनके चलन के बारे में, वादी-सम्वादी स्वरों के प्रयोग के बारे में भी समझाते गये। इन दस रागों के अतिरिक्त और भी कई राग उन्होंने हमें सुनवाये, जिनके स्वर अभी भी कानों में गूँज रहे हैं। उन्हें मैं भूल न सका हूँ।

श्री भातखण्डे जी के सहवास से, उन्हें निकट से देखने से मैं यही समझ पाया हूँ कि वे वस्तुतः एक महान् पुरुष एवं कलाकार थे। संगीत संसार के लिये तो मानों एक युगपुरुष थे। जीवन उनका संगीतमय था और पवित्र एवं उच्चतम कला की साधना में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया।

# 'पास हुए हो, परन्तु प्रमोशन नहीं'

आचार्य बाला साहब पूछवाले, ग्वालियर

पं० भातखण्डे का स्मरण होते ही साथ-साथ इसका भी सदैव स्मरण हो आता है, कि मेरा वास्तविक नाम पाण्डुरंग है और 'पाण्डु' इस नाम से मुझे पुकार कर मेरा लाड़-दुलार करने वाले केवल वे ही एकमात्र व्यक्ति थे। उनका प्रथम दर्शन मुझे कब हुआ, ठीक-ठीक ध्यान में नहीं आता। परन्तु आयु के आठवें वर्ष से कुछ-कुछ घटनाएं याद आती हैं। संगीत विद्यालय में मेरी नियमित शिक्षा प्रारम्भ हो चुकी थी। सम्भवतः नवम्बर १९२० का समय था। परीक्षा संचालन हेतु पंडित जी ग्वालियर पधारे थे। हाँ, ठीक तो है! २९ अक्तूबर शनिवार का वह शुभ दिवस था। विद्यालय की ओर सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मैं उन्हें देख रहा था। और उन्होंने भी अपनी हृदयस्पर्शी दृष्टि से मेरी ओर देखा। इसी क्षण से उनके व्यक्तित्व का मुझ पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उसके बाद की घटनाएँ सारी की सारी मुझे आज तक याद हैं।

परीक्षाएं प्रारम्भ करने के पूर्व कुछ दिन तक सभी कक्षाओं में जाकर प्रत्येक विद्यार्थी का गायन वे सुन लेते थे। विद्यार्थियों से बातें करते हुए उनके मन से परीक्षा और परीक्षा संबंधी सारा भय दूर करा देते। आवश्यकता पड़ने पर बीच-बीच में समझाते जाते और स्वयं भी गाकर सुनाते रहते। वास्तव में ऐसे ही निरीक्षणों में प्रत्येक विद्यार्थी की तैयारी का वे अंदाज लगा लेते और यहीं पर परीक्षा का निर्णय भी लगभग हो जाता था। बाद में परीक्षा केवल एक रस्म मात्र रह जाती थी। प्रातः यह काम होता और सायं नौताला गेस्ट हाउस में शिक्षक-मित्रों से वार्तालाप, संगीत संबंधी चर्चा होती। पिता जी के आते ही गीतों की स्वरलिपि बनाने का काम शुरू हो जाता। स्व० पिता जी के साथ हठ करके मैं भी कभी-कभी वहाँ जाता था। बड़े लोगों की बातें सुनने-समझने की अपेक्षा एक दूसरा ही उद्देश्य वहाँ जाने में मेरा रहता था। राजाभैया के साथ मुझे देखते ही राव साहब कहते—"अरे पाण्डू, उस आलमारी में तुम्हारे लिए मिठाई रखी है। उसे ले लेना और खेलते रहना। हम लोग अब अपना काम करेंगे।" सुबह अथवा दोपहर में चाय के साथ जो नाश्ता उनके लिए महल से आता था, उसे मेरे लिए स्मरण पूर्वक वे सम्हाल कर रख देते और पिताजी को अक्सर कहते, "पाण्डू को साथ में ले आइए।"

विद्यालय में मेरी शिक्षा प्रारम्भ होने पर मुझे देखते ही "पाण्डू, वह चीज सुनाओ! यह चीज कैसी अच्छी है न?" इत्यादि, प्रायः कहते रहते।

एक बार मध्यमा परीक्षा में मैं सम्मिलित हुआ। कक्षा में अभ्यास के समय भी मैं अधिकतर खेल-कूद में व्यस्त रहता। इधर घर में मुझे सिखाने के लिए पिताजी को भी

समय नहीं मिलता। चीजें तो मुझे याद थीं, परन्तु ढंग से गायकी पेश करने लायक एक ही राग तैयार हुआ था। सौभाग्य से पंडितजी ने भी वही राग मुझे पूछ लिया। जन्म से ही गवैया का लड़का होने से वह राग मैंने ठीक-ठीक गा दिया और पंडित जी ने मुझे पास भी कर दिया, परन्तु मेरी कमजोरी को भी उन्होंने भाँप लिया था। राजाभैया से कह दिया, 'पाण्डु तो पास हुआ है।' राजाभैया बड़े आश्चर्य में पड़ गये और कहने लगे, "राव साहब, यह आप क्या कह रहे हैं? उसकी तो पास होने लायक तैयारी नहीं है। उसे कुछ भी तो नहीं आता। आपने उसे पास कैसे किया?" रावसाहब ने उत्तर दिया, "भैया, पांडू ने तो अच्छा ही गाया।" राजाभैया ने अपना कहना जारी रखते हुए कहा, "ठीक है, अच्छा गा दिया हो, तो क्या हुआ? उसे सिर्फ एक ही राग हमेशा गाते हुए मैंने घर में सुना था। आपने उसे वही पूछ लिया, जो उसे अच्छा आता था। मेरे मत से तो उसे पास नहीं करना चाहिए!" राजाभैया के उत्तर से रावसाहब बहुत खुश हुए और मुझे उसी कक्षा में पुनः अभ्यास करते रहने का निर्णय लिख दिया और दूसरे दिन बड़े प्रेम से मुझसे कहा, "पाण्डू, इस वर्ष तुम इसी कक्षा में सीखो। खूब मेहनत करना। गवैये के बेटे हो, गवैय्या ही बनो!" इसके कुछ ही दिनों बाद रावसाहब का स्वास्थ्य खराब हुआ और फिर वे ग्वालियर न आ सके।

जून १९३४ में पिताजी के साथ मैं बम्बई गया। रावसाहब का दर्शन करने हम दोनों गये। तब वे बिस्तरे पर लेटे हुए थे। हम दोनों के उनके चरण-स्पर्श करते ही उन्होंने पूछा, "कौन है?" पिताजी ने उत्तर दिया, "मैं हूँ भैया! साथ में पाण्डू भी आया है।" 'भैया' और 'पाण्डू' इतना सुनते ही वे बड़े आनन्दित हुए। मुझे अपने पास बिस्तरे पर बैठा दिया और बोले, "पाण्डू, झटपट गाना सुनाओ!" गायन शेष हो जाने पर मेरे पीठ पर हाथ रखा और बोले, "भैया, आप में जिस बात की कमी है, वह ईश्वर ने पाण्डू को दी है। मुझे पूर्ण विश्वास है, वह आपका नाम उज्जवल करेगा!" यह सुन कर मैं कृतार्थ हुआ! उनका वह आशीर्वाद और वह मिठाई ये दो ही बातें मेरे अपने जीवन की सबसे बड़ी यादगार है। और मुझे 'पाण्डू' कहकर पुकारने का वह अधिकार तो केवल उनका ही था। यदि किसी ने इस नाम से पुकार भी लिया तो वह प्रेम, आत्मीयता उसमें कैसे आ सकती है?

## कुशल एवं परिपक्व गायक

आचार्य रामचन्द्र माधव
अग्निहोत्री, ग्वालियर

सन् १९१८, पौष मास का सुहावना मौसम था। ग्वालियर के पुराने राजमहल कम्पू कोठी के द्वार पर सांयकाल के ४ बजे के लगभग दो अश्वों वाली एक सरकारी विक्टोरिया आकर रुकी। दूसरे ही क्षण में एक भव्य लम्बे कदवाला व्यक्ति विक्टोरिया से उतरा। उस व्यक्ति का शरीर अत्यन्त सुगठित एवं सुडौल और भाल-प्रदेश भव्य दिखाई दे रहा था। वर्ण गौर था एवं आँखें अत्यन्त तेजस्वी थीं ऐसा प्रतीत होता था मानों जिसके तरफ

देखें, उसके अन्तरंग का भेद ले रही हों। बदन में लम्बा पर्शियन कोट, गले में शुभ्र मफ़लर लपेटा हुआ, कंधे पर सफेद दुपट्टा एवं सिर पर महाराष्ट्र की सुपरिचित पूनाशाही पगड़ी पहिने हुए थे। कोट की जेब से पाकिट-घड़ी की चाँदी की चेन लटक रही थी तथा हाथ में एक सुन्दर बेंत था। ये ही थे पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे, जिनका उस अविस्मरणीय दिन मैंने प्रथम बार दर्शन किया था।

प्रसंग माधव संगीत स्कूल की स्थापना का था। प्रवेशार्थियों की जाँच करके उन्हें स्कूल में प्रवेश देकर स्कूल का कार्य शुरू करना था। इसी कार्य से पंडित जी उस दिन वहाँ पधारे थे। प्रवेश पाने के इच्छुक छात्रों में स्वयं मैं भी था। पंडित भातखण्डे जी ने छात्रों की जाँच इस प्रकार से की। उनके पास एक सप्तस्वरी सीटी थी। उसे बजाकर उसकी आवाज में आवाज मिलाने के लिये वे कहते थे। जो छात्र उससे आवाज मिला लेते थे, उनकी अन्य बौद्धिक जाँच करने के उपरान्त उन्हें प्रवेश दिया गया। इस प्रकार पहला समूह लेकर स्कूल का कार्य स्वयं उन्होंने प्रारम्भ किया।

गुरुवर्य भातखण्डे जी की शिक्षा-प्रणाली अत्यंत प्रभावी थी। उन्हें अपनी कार्य-पद्धति एवं उसकी सफलता का पूर्ण विश्वास था। लगभग तीन माह तक नये छात्रों को स्वरज्ञान कराकर इस अल्प अवधि के बाद ही उन्होंने ग्वालियर के मेले में श्रीमन्त सरकार माधवराव महाराज सिंधिया के सम्मुख स्वरलिपि की उपयुक्तता का प्रदर्शन करके दिखाया। खमाज राग का लक्षणगीत 'गुनि गावत राग खमाज सदा, हरिकांमुजि थाट बनाय सदा' तथा यमन राग में 'हे मन गाय प्रभु को भाई' और 'भज मन करुणा-निधान' आदि कुछ गीत नोटेशन सहित बोर्ड पर लिखे थे। उन्हें समस्त छात्रों ने देखकर एक साथ गाया।

किन्तु इस पर महाराज द्वारा अविश्वास प्रगट किया गया कि उपर्युक्त गीत छात्रों को शायद पहले ही सिखलाये गये होंगे। अन्यथा क्या केवल नोटेशन देखकर इतने छात्र एक साथ एक ही ढंग से गा सकते हैं? महाराज की इस शंका का निवारण भातखण्डे जी ने बड़े ही सरल ढंग से किया। नोटेशन सहित लिखी हुई अपनी किताबें उन्होंने महाराज के सामने रख कर प्रार्थना की कि इनमें से महाराज जो भी गीत सुनना चाहें, उसकी आज्ञा प्रदान करें। मेरे छात्र उसे तत्काल सुना सकेंगे।

श्रीमन्त महाराज ने एक गीत चुन कर उसे गाने को कहा। उस गीत को पंडित जी ने स्वयं अपने हाथ से बोर्ड पर सुवाच्य अक्षरों में लिखा। छात्रों ने उस गीत को भी उसी तरह गाकर सुनाया। इस सफल प्रदर्शन को देखकर महाराज बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने भातखण्डे जी की इस बात को मान लिया कि संगीत संस्थाओं के लिये नोटेशन पद्धति की नितान्त आवश्यकता है। इस प्रकार भातखण्डे जी ने नोटेशन का महत्व प्रस्थापित किया।

पंडित भातखण्डे वर्ष में दो बार माधव संगीत विद्यालय ग्वालियर में परीक्षा लेने के लिये पधारते थे। परीक्षा लेने की उनकी एक विशिष्ट प्रणाली थी। प्रत्यक्ष परीक्षा प्रारम्भ होने के पूर्व वे समस्त कक्षाओं में घूमकर छात्रों के कामकाज का निरीक्षण करते थे तथा प्रत्येक छात्र की पूर्ण जानकारी शिक्षकों से प्राप्त कर लेते थे। पश्चात् व्यावहारिक परीक्षा टाउन हाल में, नगर के कुछ सम्माननीय आमंत्रित लोगों की उपस्थिति में ली जाती थी। तात्पर्य यह है कि छात्रों की परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों ही पद्धति से जाँचकर वे अपना

निर्णय देते थे। परीक्षा समाप्त होने पर तत्सम्बन्धी एक विस्तृत रिपोर्ट लिख कर उसमें शिक्षकों के अच्छे कार्य की प्रशंसा और त्रुटियों का उल्लेख तथा होनहार छात्रों के लिये मार्गदर्शन भी रहता था।

परीक्षा कार्य के अतिरिक्त इन्हीं दिनों में संगीत सम्बन्धी शास्त्रीय चर्चा, नई-नई चीजों को गाकर सुनाना, उन्हें सिखाना, शिक्षण-कार्य सम्बन्धी शिक्षकों को मार्गदर्शन प्रदान करना, आगामी वर्ष का शिक्षण-कार्य छात्रों एवं शिक्षकों को सौंपना, ग्वालियर के प्रसिद्ध गायक-वादकों से मिलना, उनका गायन-वादन सुनना और उनसे कुछ गीत प्राप्त कर संग्रह करना तथा उन्हें माधव संगीत स्कूल में लाना आदि कार्य भी उनके द्वारा बराबर चलते रहते थे।

एक बार ग्वालियर के प्रसिद्ध गायनाचार्य श्रीबालागुरुजी के घर भातखण्डे जी गये और उनसे संगीत विषय पर कुछ चर्चा की। तत्पश्चात् उन्हें माधव संगीत स्कूल में आग्रह-पूर्वक लाकर स्कूल के कुछ छात्रों का जोड़ी से गायन सुनवाया। उसे सुनकर बालागुरुजी प्रसन्न होकर बोले—'भातखण्डे, मैं नहीं जानता था कि तेरा कार्य इस प्रकार से निर्दोष होगा। अरे, जब एक वर्ष में ही ये बालक इतना उत्तम गा रहे हैं, तब तो इस स्कूल से अवश्य ही गायक निर्माण होंगे।'

पंडित भातखण्डे जी के आगमन पर ग्वालियर में जो गायन-वादन के जलसे होते थे, उनका एक मात्र उद्देश्य छात्रों को प्रोत्साहित करना, उन्हें सभाढीठ बनाना—यही था। इन्हीं जलसों में से एक जलसा मेरे घर पर भी प्रतिवर्ष होता था। जिसमें स्कूल के अच्छे विद्यार्थी जोड़ियों से गाते थे। इस अवसर पर नगर के सम्माननीय श्रोतागण उपस्थित होकर हम बालकों को प्रोत्साहित करते और संगीत-श्रवण का लाभ उठाते थे।

पंडित भातखण्डे जी केवल संगीत के प्रचारक ही नहीं, अपितु एक उत्तम शिक्षक एवं गायक भी थे। एक समय की बात है कि प्रवेश कक्षा में अलंकारों को छात्र सामूहिक रूप से गा रहे थे। उनमें से जो छात्र बेसुरे थे, पंडित जी ने उन्हें तत्काल भाँप लिया और अच्छे छात्रों को बन्द करके केवल ऐसे ही छात्रों को गवाया जो सचमुच ही बेसुरे थे। कुछ ही क्षणों के परिचय के बाद केवल बेसुरों को ही भाँप लेना पंडित जी की असामान्य बुद्धिमत्ता एवं सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचायक है।

एक बार माधव संगीत स्कूल में शास्त्र-सम्बन्धी चर्चा करते हुए उन्होंने खंडमेरु की तानें नष्टोद्दिष्ट प्रकार से निकालने की पद्धति को तथा तालमेरु जैसे कठिन विषयों को इतनी आसानी से सिखलाया कि वह प्रसङ्ग मैं भूल नहीं सकता। शास्त्रकार होने के साथ-साथ वे कुशल गायक भी थे। इसी भवन में उन्होंने यमन राग का 'ए गणराज महाराज', मेघ मल्हार राग का ध्रुवपद 'आयो अब बरखा ऋत' तथा सादरा 'प्रबल दल साज' और भीमपलासी राग का 'गरवा हरवा डारूँगी मा' आदि गीत अपने भारदस्त, परिपक्व कंठ से सुनाये और सिखाये। उनके गाने का सुननेवाले पर अत्यन्त गहरा प्रभाव पड़ता था। सिखाते समय वे राग की समस्त शास्त्रीय जानकारी गीत के पूर्व में ही बतलाकर समप्रकृतिक रागों की छटाएँ तथा उनकी बारीकियाँ इतनी अच्छी प्रकार बताते कि छात्र रागरूपों से

भलीभाँति परिचित हो जाते थे। एक बार केवल 'सा-म' इस स्वर संगति को लेकर ही वह स्वर-संगति जिन-जिन रागों में आती है, उन रागों को उपर्युक्त स्वर-संगति के गुप्त-बंधन से होने वाली बारीकियों का जैसे कि स्वर उच्चारण, कणों का प्रयोग आदि का स्पष्ट प्रदर्शन कर भिन्न-भिन्न रागों में एक ही स्वर संगति कैसी बताई जाती हैं; यह असंख्य उदाहरणों द्वारा उन्होंने बताया था। इस प्रकार गायन-वादन में प्रयुक्त होने वाली अनेक सूक्ष्म बातों को समय-समय पर वे बताते थे।

एक सप्तक में क्रमशः बाईस ध्वनियों को पृथक्-पृथक् रूप से स्वयं गाकर उनमें से किस राग में स्वर का कौन-सा रूप लगता है, यह भेद भी बताते थे। जैसे दरबारी, बहार, मियाँ मल्हार, अड़ाणा आदि रागों में कोमल गांधार स्वर किस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप से लगता है, यह स्पष्ट रूप से सुनाते थे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भातखण्डे जी ने सङ्गीत के उद्धार के लिये प्रचारक एवं प्रवर्तक के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इससे सिद्ध होता है कि वे सङ्गीत के लिये ही उत्पन्न हुए, सङ्गीत के लिये ही जीवित रहे और अन्त में सङ्गीत के लिये ही उन्होंने अपने प्राण विसर्जित किये। वे एक युगपुरुष थे। उनका नाम सङ्गीत जगत् में ध्रुवतारे की भाँति सदैव अटल एवं चमकता रहेगा।

## बम्बई के भातखण्डे और उनके बण्डे का मैं बण्डा

आचार्य बालाभाऊ उमड़ेकर, ग्वालियर

महापुरुषों के साथ छल, कपट, उपहास कहाँ और किस युग में नहीं हुआ ? शुरू-शुरू में गुरुवर पं० भातखण्डे ग्वालियर में पधारे। संगीत विषयक उनकी चर्चाएँ श्रीमंत बड़े सरकार के साथ चलती रहतीं। उनकी उदात्त योजनाओं का परिणाम बड़े सरकार पर हो चुका था तथा रियासत की संगीत परम्परा के पुनरुद्धार का कार्य उन्होंने पं० भातखण्डे को सौंप दिया था। भातखण्डे साहब की हर सूचना का बड़े सरकार बहुत समादर करते। लेकिन ऐसा हो जाना पेशेवर गायक-वादकों को अच्छा नहीं लगा। जनमत कलुषित करने के इरादे से उन्होंने कई प्रकार की अफवाएँ फैलाना शुरू किया। यहाँ तक कि विद्यालय में जाने-वाले मुझ जैसे अबोध बालकों को परावृत्त, निरुत्साही किया गया। सड़कों पर नारे लगाये जाने लगे। उपहास की कुछ बातें मेरे भी कान तक पहुँच गईं। 'बम्बई से आये भातखण्डे, उन्होंने दिये सात अंडे, एक पूछवाले और बाकी सब बण्डे।' 'खण्डे-अण्डे, वाले, बण्डे' की तुकबन्दी ने प्रथम तो मेरी भी बाल्यसुलभ प्रवृत्ति को प्रभावित किया। यार-दोस्तों में जहाँ भी गपशप होती, उपरोक्त पंक्तियाँ बड़े उत्साह से हम लोग कहते रहते। परन्तु चंद महिनों में ही उनके व्यक्तित्व का एक ऐसा परिणामकारी असर हुआ कि भातखण्डे के बण्डों का

प्रभाव दिखाकर विरोधियों के दाँत खट्टे कराने की इच्छा जागृत हुई। हम सब लोग अपने अभ्यास में डूब गये।

वर्ष-डेढ़-वर्ष की तालीम के बाद भातखण्डे साहब के प्रयोगों ने रूप धारण किया। सन् १९२० में एक दिन भातखण्डे साहब ने नगर के कतिपय गणमान्य गायक-वादक अधिकारियों को विद्यालय का कामकाज दिखाने के लिये आमंत्रित किया। श्री बालासाहब गुरुजी, पन्ना गुरुजी, राव साहब मसूरकर, भिड़े साहब, एक नाथपंत देव तथा मंगेशराव पागनीस विशेषतः उपस्थित हुए थे। अपनी तालीम का प्रात्यक्षित दिखाने के लिये मुझे तथा श्री सदाशिवराज अग्निहोत्री को आज्ञा हुई। 'हे मन गाय प्रभु को भाई' तथा 'एतनों जीवन पर मान न करिये' क्रमशः यमन और भूपाली की चीजें हम दोनों ने ऐसी गाईं कि स्वयं बाला गुरुजी कहने लगे : 'भातखण्डे, मुझे कल्पना नहीं थी कि ये लड़के इतना अच्छा गाते होंगे। जो बात हम लोग दस वर्षों में नहीं कर पाते, वही बात तुमने दो वर्षों में करके दिखायी। अब मैं सदैव के लिये तुम्हारा यशचिंतक हो गया हूँ। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करें' इत्यादि।

एक बार रियासत के एक संगीतकार ने शिवपुरी में श्रीमंत बड़े सरकार से अनुरोध किया कि 'मेरी कुछ व्यवस्था करा दीजिए।' बड़े सरकार ने उत्तर दिया, 'भातखण्डे साहब का प्रशस्तिपत्र ले आइये।' सौभाग्यवश मैं भी वहीं पर उपस्थित था। बाद में उन संगीतकार को स्वयं राजाभैया अपने साथ नौताला गेस्ट हाऊस पर ले गये और भातखण्डे साहब से उनके विषय में निवेदन किया। भातखण्डे साहब ने जवाब देते हुए कहा, 'आप स्वयं इतने ख्यातिप्राप्त हैं कि मेरे प्रशस्तिपत्र की क्या आवश्यकता? तथापि उससे ही आपका यदि कुछ लाभ होता हो तो मेरी केवल एक शर्त है कि मेरे इन बच्चों को निष्कपट भाव से पनश्री विद्या सिखाने का मुझे आश्वासन दीजिए।'

बात सन् १९२५-२६ की है। श्रीमंत बड़े सरकार कैलासवासी हो चुके थे। नौताला गेस्ट हाऊस में बड़ी महारानी श्रीमती चिवक्कू राजा साहब से पंडित भातखण्डे जी वार्तालाप कर रहे थे। बड़े महाराज के स्वर्गवासी हो जाने पर विद्यालय का क्या होगा, ऐसी भातखण्डे साहब को चिंता थी। मैं भी वहाँ एक तरफ मौजूद था। श्रीमती बड़ी रानी साहिबा ने भातखण्डे साहब को धैर्य देते हुए कहा—'महाराज के चले जाने से संगीत विद्यालय लावारिस हो गया है, ऐसा आप कदापि न समझें। आपको जिस चीज की आवश्यकता हो, पूर्ववत् मुझसे कहते जाइये। किसी बात की कमी न होगी। यह विद्यालय यथार्थ में आपका ही है। उसकी ओर मेरा सदैव ध्यान रहेगा। विद्यालय का लालन पालन आपको ही करना है।'

गणेशचतुर्थी १९३६ में गुरुवर भातखण्डे साहब का देहावसान हुआ। गणेश उत्सव के उपलक्ष में महल में इस समय अखंड भजन सप्ताह चल रहा था। निधन समाचार महल में पहुँचते ही उदासी छा गयी। हम में से किसी का भी मन ठिकाने पर नहीं था। पहरा शेष हो जाने पर छोटी महारानी श्रीमती गजरा राजा साहिबा ने श्री विष्णु बुवा को बुलाया। साथ में मैं भी था। मेरे समक्ष श्रीमती गजरा राजा साहिबा ने कहा—'विष्णु बुवा,

भातखण्डे साहब नहीं रहे। संगीत विद्यालय में उनका अच्छा-सा चित्र अथवा प्रतिमा स्थापित कीजिये। यह विद्यालय उन्हीं का है। उसकी देखभाल खूब अच्छी तरह से कीजिये।'

मामा साहब के बाजार में श्री बेमड़ के अखाड़े के हनुमान जयंति के पर्वपर गायन-वादन का सप्ताह था। हम सारे विद्यार्थी तथा नगर के अन्य कलाकार वहाँ प्रतिवर्ष उपस्थित रहते थे। मेरा गायन हो चुका था। पंडित भातखण्डे साहब अत्यंत प्रसन्न हुए। बाद में ग्वालियार के अन्य सुविख्यात गायक-वादकों का प्रदर्शन हुआ। बात ही बात में एक सज्जन से उनकी बहुत बहस होने लगी। ईर्ष्यालु सज्जन ने पण्डित जी को बहुत-सा बुरा-भला कहा। अंततः संयम का बाँध टूट जाने पर भातखण्डे साहब ने शांति चित्त से केवल इतना ही कहा, 'महाशय, यही मेरे बच्चे एक दिन आपके आसनों पर अधिष्ठित हो जावेंगे।' प्रखर तपस्या का प्रभाव समझिये अथवा शारदा सरस्वती की निरपेक्ष सेवा का परिणाम कहिये, पण्डित जी के वे बोल अक्षरशः फलद्रुप हुए। सन् १९३४ में ग्वालियर दरबार में गायक के पदपर मेरी नियुक्ति हुई। आनंदविभोर होकर श्री राजाभैया ने पण्डित जी को तार द्वारा सूचित किया। उत्तर में पंडित जी ने पुनः तार द्वारा मेरा हार्दिक अभिनन्दन किया। हम सबों पर उन्हें अत्यंत अभिमान था।

वैसे तो असंख्य बातें आज भी ज्यों की त्यों याद आती हैं। परन्तु बाल्यकाल से ही राजपरिवार में आने-जाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त रहा है। अतः वहाँ उनका कितना सम्मान होता था, इसी विषय पर कुछ संस्मरण सेवा में सादर प्रस्तुत किये हैं।

सुगीशस्त्वं रमारा च गोपगा मधुमा तथा।
प्राणाऽपि ध्येयसाध्यं च विष्णु नारायणं भजे॥

—'सुनर'

## हम गायकों का भाग्य खुल गया

श्रीमती अंजनीबाई मालपेकर, बम्बई

देहली में आयोजित एक शाही जल्से में संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रदत्त फेलोशिप राष्ट्रपति के कर-कमलों से प्राप्त करने के लिए मंच की ओर मैं जा रही थी। चारों ओर गंभीर्य पावित्र्य छाया हुआ था। एक-एक कदम आगे बढ़ाते हुए मैं मन में सोचने लगी, गायक-वादकों का इतना बड़ा सम्मान किसके परिश्रमों का फल है? मुझे वे दिन याद आये जब तपे-तपाये गायक-वादक आर्थिक कठिनाइयों के कारण बम्बई की सड़कों पर भूख से तड़प रहे थे। विचारों की यह उथल-पुथल राव साहब भातखण्डे के पुण्य स्मरण पर जा कर स्थिर हो गई।

इस अवसर पर मुझे आशीर्वाद देने के लिये रावसाहब भले ही जीवित न हों, परन्तु संगीत के इस नव जागरण का श्रेय केवल उन्हीं को दिया जाना चाहिए। उनसे उत्साह पाकर बड़ी-बड़ी महफिलों में मैंने यश प्राप्त किया। मैं सोच रही थी, यह मेरा व्यक्तिगत सम्मान नहीं है। जिन्होंने मुझे संगीत में दृष्टि प्रदान की, उन रावसाहब का ही मेरे माध्यम से सम्मान हो रहा है। खाँ साहब नज़ीर खाँ की मैं लाड़ली शिष्या हूँ। नजीर खाँ ने मुझे गायन की शिक्षा दी तो रावसाहब ने समझ-बूझकर गाने की कला मुझे सिखाई।

आज मेरी आयु ८४ वर्ष की है और ८ वर्ष के बाल्यकाल से सारी घटनाएँ याद हैं। नजीर खाँ साहब मुरादाबाद के निवासी थे। रामपुर दरबार की प्रसिद्धि सुनकर अपना भाग्य आजमाने के लिए वे वहाँ पर गये। परन्तु नवाब साहब को गंडा बाँधे बिना दरबार में प्रवेश पाना असम्भव जान कर ठीक चौथे दिन ही वहाँ से भागकर बम्बई आ गये। उस समय बम्बई में एक-एक राग पर ५०० रुपये का इनाम रखा जाता और वह सारे इनामात नजीरखाँ ने प्राप्त किये। इन्हीं जल्सों में भातखण्डे साहब से उनका परिचय हुआ जो क्रमशः मित्रता-बन्धुत्व-शिष्यत्व में परिणत हुआ। गायनोत्तेजक मंडली में वे प्रतिदिन तालीम देते थे व घर पर सात आठ घण्टे दिन-रात मुझे तालीम देते थे। हिन्दुस्तानी राग रचना के सौन्दर्य का आभास नजीरखाँ को भातखण्डे साहब ने दिया, जिसे प्रत्यक्ष तालीम के समय वे मुझको सिखाते थे। केवल श्री राग के ऋषभ की असंख्य छटाएँ छः मास तक मुझे सिखाई थीं। भातखण्डे साहब से पाया हुआ राग रचना का अलौकिक संदेश—अनुभव नजीरखाँ साहब मुझ तक पहुँचा देते। नजीरखाँ मेरे गुरु अवश्य हैं, परन्तु भातखण्डे साहब को मैं उतने ही सम्मान से देखती हूँ। वे भी मेरे गुरु हैं।

नजीरखाँ भातखण्डे साहब को आदर से 'रावसाहब' कहते तो भातखण्डे साहब नजीर खाँ को 'दादा' कहते थे। और मुझे ये दोनों महापुरुष 'चेवड़ा' अथवा 'चिड़िया' पुकारते थे। रावसाहब द्वारा नजीर खाँ को दी हुई शास्त्रीय सिद्धान्तों की तालीम मैंने वर्षों तक सुनी है। परन्तु कभी-कभी नजीरखाँ द्वारा रावसाहब को तालीम देते हुए भी देखा है। दोनों का आपस में इतना स्नेह-आदर था कि किसको-किसका शागिर्द ठहराना मुश्किल था। परन्तु इतना अवश्य कहूँगी कि रावसाहब की उपस्थिति में नजीरखाँ साहब किसी से भी गंडा बँधवाने को प्रायः टालते ही रहते। ऐसे सभी अवसरों पर नजीरखाँ साहब रावसाहब की अनुमति या तो प्रथम प्राप्त कर लेते अथवा पहला गंडा बाँधने का सम्मान ही रावसाहब को दिया जाता। नजीर खाँ के लिए उस समय के सभी गायकों के सिरताज हो जाना भातखण्डे साहब की कृपा दृष्टि का फल है। बहुत अंश तक स्वयं अपने ही अज्ञान-घमण्ड के कारण गायक-वादकों की उस समय बड़ी दुर्दशा थी। नजीरखाँ भातखण्डे साहब को अक्सर कहा करते, "रावसाहब, संगीत को ज़िन्दा रखिये। कलाकार फुटपाथों पर मर रहे हैं। उन्हें मरने से बचाइये।' और इसीलिये तो नजीर खाँ तथा रावसाहब ने एकत्रित होकर गायक-वादकों को आश्रय दिया, उनके मुजरे करवाये, समझा-बुझाकर उनका सामाजिक स्तर ऊँचा करने का प्रयास किया। शास्त्र का महत्व नजीरखाँ द्वारा उन्हें समझाया। गायक-वादकों से भेंट परामर्श, जलसे आदि सभी अवसरों पर भातखण्डे साहब नजीर खाँ को अपने साथ ले जाते। और जहाँ नजीरखाँ जाते उनकी 'चिड़िया' साया की भाँति पास में रहती। बाल्य-

काल से ही ऐसे सभी अवसरों पर मैं उपस्थित रही थी। कई प्रसंगों पर भातखण्डे साहब ने शास्त्र की बातें मेरे द्वारा नजीरखाँ साहब को पहुँचायीं। मालवी त्रिवेणी, गौरी, जेतश्री, श्री, आदि सैकड़ों रागों के संस्कृत श्लोक स्वयं मैंने याद किये और नज़ीरखाँ साहब से याद करवाये। निरंकुश गायकों के आचार-व्यवहार नियंत्रित कराने का काम भातखण्डे साहब ने नजीरखाँ द्वारा करवाया। शास्त्र सिखाकर नजीरखाँ को उन्होंने सुसंस्कृत गवैया बनाया था। संगीत मुसलमानों ने जिंदा रखा और उन्हें वास्तविक दृष्टि भातखण्डे साहब ने प्रदान की। बम्बई में आज जो संगीत जीवित है वह भातखण्डे, नजीर खाँ के सत्प्रयत्नों का ही फल है।

जीवनलाल महाराज, बालकृष्ण लाल जी बड़े मंदिर वाले तथा मैसूर के शेषण्णा भातखण्डे साहब को प्रेरणा प्रदान करने वालों में थे। जीवन लाल जी का ग्रंथ-संग्रह विशाल था। भातखंडे साहब इनके यहाँ जाकर प्रायः वाचन, मनन, चिंतन करते थे। अच्छी आवाज के बालक मिल जाने पर उनमें संगीत के प्रति अनुराग निर्माण कराते। कितने ही बालकों को मिठाई के लिये जेब से गिन्नियाँ देते हुए मैंने उन्हें देखा था। परन्तु 'गायन सीखूंगा' ऐसा आश्वासन उन्हें प्रथम देना पड़ता था। वकालत तो उन्होंने बहुत ही थोड़े दिन तक की। दिन भर हाथ की उंगलियों द्वारा ताल देना, गुन-गुनाना, संगीत में ही खोये रहना उनका स्वभाव बन गया था।

गायन-वादन के जलसों में मैं उनके साथ रहती थी। घण्टों तक मेरा गायन सुनते रहते। अपनी पुत्री के समान मुझ में उत्साह फूंक देते। उनका पिता तुल्य चेहरा देखते ही मुझे गाना सूझने लगता। गोवर्धन दास तेजपाल के यहाँ मेरा सबसे बड़ा जल्सा हुआ। विजयी गायक को पुरस्कृत किया जाना था। जल्सा प्रारम्भ करने के पूर्व भातखण्डे साहब ने मुझे पास बुलाया और कहा—'चेड़वा, शामकल्याण गाओ।' भातखण्डे साहब का आशीर्वाद पा जाने पर मुझे और क्या चाहिये था। मैंने भी गायन का ऐसा नक्शा श्रोताओं के सामने रखा कि विजय श्री ने अंततः मुझे ही स्वीकार कर लिया। जल्सा रात भर हुआ। दूसरे दिन प्रातः ७ बजे से ९॥ बजे तक मैंने गुणकली गाई। प्राप्त पारितोषिक गोवर्धन दास जी के मंदिर को भेंट स्वरूप दे दिया। यही मेरा बम्बई में सबसे बड़ा जल्सा था।

युवावस्था में मैं बहुत सुन्दर थी। कई बार विपरीत परिस्थितियों का मुझे सामना करना पड़ा। कलाकार भी चरित्रवान् होते हैं—यही मुझे अपने आचरण से सिद्ध करना था। मेरे दीर्घ एवं सफल जीवन का श्रेय पंडित भातखण्डे जी को ही है।

मुझ जैसे बुद्धि विरहित बैल पर जितना भी लादा जा सकता था, उन्होंने लाद दिया। मेरे गायनों में वे सदैव उपस्थित रहते। दूसरों से मेरी प्रशंसा सुनकर माँ-बाप से भी अधिक आनन्द उन्हें होता। किसी ने एकाध फूल देने पर वह पुरस्कार मुझे प्रदान करते। ऐसे समय पर उनकी 'चिड़िया' भी उनके चरणों पर शीश झुकाती हुई ईश्वर के निकट सान्निध्य का अनुभव कर लेने में न चूकती।

मेरा समस्त जीवन गायकों के बीच में बीता है। सही अर्थ में पंडितों का सान्निध्य मैंने पाया। भातखण्डे जी ने हमारा सचमुच उद्धार किया। ऐसे अनन्यभूत व्यक्ति पर

कीचड़ उछालते हुए इधर कुछ वर्षों से मैं देख रही हूँ। वृद्धावस्था के कारण हर सवाल का जवाब देना अब मुझसे नहीं बनता। पर हाँ, इतना अवश्य कहूँगी, मेरा जीवन क्रिया सिद्ध है। मेरी शैशवावस्था की संगीत की परिस्थितियाँ मैंने देखी हैं और भातखं जी ने जिस प्रकार उससे चेतना निर्माण की वह भी देखा, अनुभव किया है। संगीत विषयक भ्रमों का आमूलाग्र निरसन करते हुए उसको सुसंस्कृत, सुगठित, सहजसाध्य बनाने वाले मेरे, आपके तथा उन स्वार्थी निंदकों के बुजुर्गों को उनके प्रेरणा स्थान का मांगल्य घटाने का किसी को कोई अधिकार नहीं। ऐसी बेबुनियाद बातें पढ़-सुनकर मन विषण्ण हो जाता है। इससे संगीत की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता है। रावसाहब जैसे निष्कलंकित सूर्य पर थूकने का दुःसाहस करने वाले संगीत के ये दुश्मन स्वयं अपने आप पर ही थूक रहे हैं। समंजस पाठक इन स्वार्थी जंतुओं से सावधान रहें, इतना ही इस वृद्धावस्था में मैं उनसे कहना चाहती हूँ।

इधर-उधर परिवर्तन कर देने से बनाये हुए नये-नये रागों का भी वही हाल है। भातखंडे जी परम्परा के पक्के अभिमानी थे। पुराने दो-ढाई सौ रागों पर ही उन्होंने लिखा। नये राग संभव ही नहीं--ऐसा कोई नहीं कहता। परन्तु आप जिसे गायेंगे-बजायेंगे, वे वास्तविक अर्थ में 'राग' कहने लायक भी तो होने चाहिए। अन्यथा ऐसी खिलवाड़ करने का किसी को क्या अधिकार है ?

रावसाहब भातखंडे के कार्यों को लोग भली-प्रकार समझें और अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार संगीत समाज का उद्धार करने में अपनी शक्ति प्रदान करें, यही मंगल कामना जनता जनार्दन से करती हूँ।

## वे क्षण सर्वोत्तम थे

पद्मभूषण उस्ताद अलाउद्दीन खाँ, मैहर

रामपुर में गुरुवर्य श्री वज़ीर खाँ साहब के पास मेरी तालीम चल रही थी। उसी समय बीच-बीच में पंडित भातखण्डे जी भी अपनी अध्ययन तथा शोध यात्राओं पर नगर में पधारते रहते थे। वज़ीर खाँ साहब के यहाँ उनकी मेरी प्रथम भेंट हुई। परिचय हो जाने पर घनिष्टता हो गई। हम लोग संगीत के अर्थ में एक ही परिवार के हो गये थे। एकदम भाई-भाई की तरह एक साथ बैठते-उठते थे, शिक्षा पाते थे और कई महत्वपूर्ण विषयों पर तर्क भी किया करते थे। हँसी-मज़ाक के अवसर भी बारम्बार आते रहते थे।

बाद में भातखण्डे जी जब कान्फ्रेन्सों के काम में जुट गये, वहाँ पर भी उन्होंने मुझे सभी अवसरों पर बुलाया। अपने साथ ले जाकर मेरा बड़ा सम्मान करते। उन्हीं के प्रयत्नों से लखनऊ में जब मैरिस कालेज की स्थापना हुई, मुझे परीक्षा संचालन के लिये बुलाया गया। कई वर्षों तक मैं वहाँ बराबर जाता रहा। सचमुच उन्हीं की बदौलत मैं परीक्षक बना था।

मेरी अवस्था अब इतनी अधिक हो चुकी है कि उनके साथ व्यतीत किये हुए उन अमौलिक क्षणों का चित्रण प्रस्तुत करना मेरे लिये असम्भव है। लिखते समय विचारों की शृंखला बन नहीं पाती व भावनाएँ मन ही मन में दबी रह जाती हैं। अस्तु, उनके साथ बिताये हुए मेरे वे क्षण सर्वोत्तम क्षण थे।

## अन्ततः मुझे भी वही रास्ता अपनाना पड़ा

गायनाचार्य स्व० रामकृष्ण बुवा वझे, पूना

स्व० भातखण्डे ने हमारे हिन्दुस्तानी संगीत को कुल दस थाटों में ग्रथित कर दिया है। उनका यह कार्य बड़ा ही अच्छा हुआ है। इससे गायक वर्ग का बहुत ही लाभ हुआ है। इसके अतिरिक्त स्व० भातखण्डे ने लगभग दो हजार चीजें पुस्तक रूप में प्रकाशित की हैं। इन चीजों को यदि वे प्रकाशित न करते तो गायन विद्या की क्या अवस्था हो जाती, कह नहीं सकते। कसदार गानेवाले तो अब उंगली पर गिनने लायक बचे हुए हैं।

हमारी हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति चीजों पर ही आधारित है। इन्हीं चीजों में हमारा शास्त्र भी मौजूद है। स्व० भातखण्डे यदि चीजों का अभ्यास न करते तो उन्हें भी इस विद्या पर पुस्तकें लिखना सम्भव न होता।

परंपरागत गायन जीवित रखने के लिये गायकों को सदैव पुरानी चीजें ही लोगों को सुनानी चाहिये। जिन जिन साधनों से कला का संरक्षण किया जा सकता है, उन सभी का उपयोग करते हुये कला का रक्षण करना चाहिये—ऐसी वर्तमान गायक वर्ग से मेरी नम्र प्रार्थना है।

इन्हीं चीजों को पुराने जमाने में गायक लोग किसी धन संचय की तरह समझते थे। मैं भी ऐसा समझता हूँ। संगीत की शास्त्रीय जानकारी और स्वरलिपि द्वारा चीजों को पुस्तक रूप से लिख रखने का उपक्रम भातखण्डेजी ने किया ही है। नोटेशन द्वारा चीजें सीखने-सिखाने की परिपाटी आजकल रूढ़ हो चुकी है। वैसे तो व्यक्तिगत रूप से मैं स्वर लिपि के विरुद्ध हूँ, परन्तु इस ढलती हुई उम्र में प्रत्येक जिज्ञासु को मुंहजबानी प्रत्यक्ष तालीम देना अब सम्भव नहीं है। ऐसा करना जब तक सम्भव था, बहुतों को मैंने सिखाया भी। परन्तु हरएक व्यक्ति को सिखाना सम्भव न होने के कारण मैंने भी नोटेशन का मार्ग अपनाया है।

नोटेशन के माध्यम से गीतों की पुस्तक यदि मैं न लिखता तो मेरे पास जो अप्रसिद्ध राग और गीत हैं, उनसे सर्वसाधारण जिज्ञासु को लाभ भी न हो पाता।

आजकल चीजें नोटेशन द्वारा कहने की, उन्हें मुद्रित करने की प्रथा चल पड़ी है। गीतों की जितनी शैलियाँ हैं, उतनी ही नोटेशन की शैलियाँ बन गयी हैं। प्रत्येक पुस्तक में

नोटेशन के पृथक-पृथक चिन्ह हैं। कोई स्वर के मस्तक पर कुर्सी का चिन्ह रखता है तो कोई स्टूल का। फलतः चीजों का अभ्यास करने के पूर्व चिन्हों का स्पष्टीकरण जानने में ही बहुत समय लग जाता है। नोटेशन संगीत की एक लिपि है। संगीत विद्या समस्त लोगों को आती नहीं और उसे वे समझते भी नहीं। इस पर भी प्रत्येक के लिखने में ऐसा फर्क हो तो सीखने वालों की हालत क्या पूछना ? स्वरों के चिन्ह सभी ग्रंथकर्त्ताओं के एक से ही होने चाहिए। केवल अपना-अपना वैशिष्ट्य स्थापित करने की झंझट में न पड़ते हुए एकाध परिषद् बुलाकर इन चिन्हों पर विचार करना चाहिये।

मैंने अपना पुस्तकों के लिये तो कोमल, तीव्र स्वरों के चिन्ह स्व० भातखण्डे की पद्धति के ही स्वीकार किये हैं।

—संगीत-कला-प्रकाश, भाग १ से संकलित

## संगीत के आधुनिक भीष्माचार्य

प्रो० ग० ह० रानडे, पूना

हमारी आज की पीढ़ी को संगीत के विषय में आस्था उत्पन्न कराने में जो अनेक कारण हुए, उनमें से एक अति महत्व का कारण पं० भातखण्डे जी द्वारा हमारे संगीत विषय पर अलौकिक ग्रन्थ-भाण्डार द्वारा की हुई क्रान्ति है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन ग्रंथों ने भारतीय संगीत के बारे में तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न करके, मेरे समान दूसरे अनेक व्यक्तियों को हमारे संगीत का अभ्यास योग्य मार्ग पर करने की स्फूर्ति दी है। मेरा संगीत व्यासंग जब जारी था, तब पं० भातखण्डे जी के किये हुए कार्य का स्वर्णयुग प्रारंभिक अवस्था में था। परन्तु मुझे स्वयं संगीत में गति मिलकर उसकी सप्रयोग शास्त्रीय चर्चा करने योग्य ज्ञान प्राप्त करने में स्वाभाविक रूप से कई वर्ष लगे। संगीत विषय में विशेष रूप से मेरे पदार्पण करते समय, अर्धांगवायु से पीड़ित होने के कारण स्वयं पंडितजी ने इस विषय से निवृत्त होने का विचार किया था और उसी के अनुसार उन्होंने आगे चलकर अपने कार्य का भार श्री सुकथनकर आदि को सौंप कर विश्रांति ली थी। तथापि कुछ कारणवश मैं स्वयं पंडित जी से एक-दो बार पत्र-व्यवहार कर चुका था तथा उन पत्रों के उत्तर भी उन्होंने अत्यंत सहानुभूति पूर्वक भेजे थे। उन्हीं के हस्ताक्षर में लिखे हुए उन पत्रों में से एक पत्र की प्रतिलिपि इतरत्र प्रसिद्ध हुई ही है।

ऐसे महान् पुरुष के प्रत्यक्ष दर्शन का लाभ होना चाहिए, ऐसी मन में प्रेरणा होती रहती थी। परन्तु उस समय मैं सांगली में था तथा पंडित जी बम्बई में रहते थे। जिसके कारण यह सुयोग सहजसाध्य होना कठिन था। फिर भी, सन् १९३४ के श्रावण मास में सुयोग आया। परन्तु दुर्दैव से उसके पूर्व ही कुछ महिनों से पंडित जी काफी अस्वस्थ हो गये थे। जिसके कारण उन्हें रुग्णशैय्या पर ही रहना पड़ा। उन्हें कष्ट न हो, इसलिए

उनके अत्यन्त निकटवर्ती सम्बन्धियों के अतिरिक्त अन्य किसी को उनसे मिलने की मनाई की गई थी। ऐसी परिस्थिति में उनसे भेंट होना असम्भव-सी ही बात थी। किन्तु श्री सुकथनकर जी के सौजन्य से यह शक्य हुआ।

सन् १९३४ में बैरिस्टर श्री जयकर की अध्यक्षता में हुई संगीत परिषद् में भाग लेने के लिये मैं बम्बई गया हुआ था। परिषद् की कार्यकारिणी मंडल के अध्यक्ष श्री सुकथनकर जी ही थे। मेरे संगीत के गुरुजी गायनाचार्य गणपतिबुवा भिलवड़ीकर के सुपुत्र श्री रामभाऊ भिलवड़ीकर अपने पिता के समय से ही पंडित भातखण्डे तथा श्री सुकथनकर इन दोनों के अत्यन्त निकटवर्ती कुटुम्बियों के समान होने के कारण तथा चूँकि मैं उस समय श्री भिलवड़ीकर के यहाँ ठहरा था, इसलिये भिलवड़ीकरजी के माध्यम से मैंने श्री सुकथनकर से पंडित जी से भेंट करा देने के बारे में प्रार्थना की। मेरी प्रार्थना को उन्होंने इस शर्त पर स्वीकार किया कि केवल कुशल प्रश्नों के अतिरिक्त भेंट के समय अन्य विषयों की चर्चा न की जावे तथा दस मिनट से अधिक समय न लिया जावे।

अतः नारली पूर्णिमा (रक्षाबन्धन) के दिन मैं तथा श्री भिलवड़ीकर लगभग प्रातः १० बजे मलबार हिल स्थित शांताराम हाऊस उनके निवास स्थान पर जा पहुँचे। उस समय पंडित जी की अस्वस्थता के कारण उन्हें श्री सुकथनकर के दीवानखाने के साथ के एक कमरे में रखा गया था व प्रत्येक आठ घंटों के अंतर से तीन भिन्न-भिन्न परिचारिकाएँ उनकी सेवासुश्रूषा करने के लिये नियुक्त की गई थीं।

हम लोगों के वहाँ आने की सूचना मिलने पर थोड़े ही समय में हमें पंडित जी के कमरे में ले जाया गया। संगीत के इन आधुनिक भीष्माचार्य के दर्शनों का यह सौभाग्य प्राप्त होने के कारण मुझे अपूर्व आनन्द हुआ। यद्यपि भीष्माचार्य तो वे थे ही फिर भी वे शरपंजर पर लेटे हुए थे, इसलिए निर्दयी कालमहिमा पर मुझे क्रोध भी आया। प्रथम हम लोगों ने पंडित जी को अत्यन्त नम्रता तथा अंतःकरणपूर्वक अभिवादन किया। पण्डित जी की श्रवणशक्ति उस समय कम हो जाने के कारण उन्होंने कर्णयंत्र की सहायता ली। पश्चात् हम लोगों ने उनके स्वास्थ्य के विषय में पूछताछ की तथा उन्होंने भी कुशल प्रश्न पूछते हुए हम लोगों का स्वागत किया। बम्बई में संगीत परिषद् में भाग लेने मैं आया हूँ तथा उसमें कुछ निबन्धवाचन भी करने वाला हूँ, ऐसा जब उनसे निवेदन किया; तब उन्होंने मुझे निबन्ध की थोड़ी-सी रूप-रेखा बताने का कहा। 'बिलावल'—यही हमारी पद्धति का शुद्ध सप्तक होगा। इस तर्क को पुष्टि मिलने योग्य एक और स्वतंत्र तथा नया प्रमाण मेरे निबन्ध द्वारा उपलब्ध हुआ है, इतना ही मैंने उनसे कहा। इतने में दस मिनट का समय समाप्त हो चुका था, अतः समय पूरा होने पर पंडित जी से हम लोगों ने चलने की आज्ञा देने की प्रार्थना की। तदनुसार हम लोग उठने वाले ही थे, कि इतने में पंडित जी ने परिचारिका से कहा—"इन लोगों की भेंट से मुझे बिलकुल कष्ट नहीं हो रहा है। इनके साथ संभाषण करने से मुझे किंचित् आराम ही मिला है। अतएव इन्हें यहाँ बैठने दिया जाकर इनके साथ बातचीत करने दी जाय"। वार्धक्य से जर्जर ऐसे इस महामुनि की तीव्र तथा तीक्ष्ण व्यासंग की पूर्ण कल्पना उनके इस व्यवहार से हम लोगों को हुई।

पंडित जी को कष्ट न हो, इसलिए मुख्य-मुख्य विषयों की त्रुटित मौखिक जानकारी

देने के बजाय मैंने अपना लिखा हुआ संपूर्ण निबन्ध ही अथ से इति तक पढ़कर सुनाने का परस्पर सहमति से निश्चित किया और मैंने वह निबन्ध लगभग १०-१५ मिनटों में उन्हें पढ़कर सुनाया।

अपने अक्षर-मात्रा-गणवृत्त में तथा तर्जों-धुनों में आये हुए स्वरों का विचार तथा उन से स्पष्ट होने वाले लोक गीतों के सप्तक अथवा थाट—यही उस निबन्ध का विषय था। ऐसे थाटों में मुख्यतः जिसे बिलावल सप्तक कहा जाता है वह तथा क्वचित् कोमल ग व नि लेने-वाला ऐसा यह दूसरा सप्तक—यही उस निबन्ध का निष्कर्ष था।

निबन्ध-वाचन करते समय जैसे-जैसे मैं आगे बढ़ता जाता वैसे-वैसे पंडित जी के मुख पर अधिकाधिक उत्साह तथा जिज्ञासा स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगी तथा निबन्ध-वाचन समाप्त होने पर उन्होंने कुछ विषयों के सम्बन्ध में मुझसे पुनः स्पष्टीकरण करने को कहा। अन्त में संतोष व्यक्त करते हुए, 'यह आपने बहुत ही सुन्दर, स्वतंत्र तथा अपने शुद्ध सप्तक को पुष्टि देने वाला प्रमाण खोज निकाला है। यह व्यासंग आप जारी रखिये तथा मेरा स्वास्थ्य सुधरते ही पुनः आप बम्बई आइये, तब इस विषय पर हम लोग अधिक विस्तृत चर्चा कर सकेंगे'—ऐसा कहकर उन्होंने मेरी सराहना की। हम लोगों के वहाँ से बिदा होने के पूर्व "मुझे इन लोगों से मिलकर बहुत समाधान हुआ। कष्ट बिलकुल नहीं हुआ।" ऐसा पंडित जी ने परिचारिका से विशेष रूप से कहा। हम लोग इस महान् महर्षि को प्रणाम करते हुए उनकी आज्ञा लेकर वहाँ से चले आये। आगे चल कर दुर्दैव से पंडित जी का स्वास्थ्य अधिकाधिक बिगड़ता ही गया। सन् १९३६ में गणेश चतुर्थी के दिन उन्हें देवाज्ञा हुई। इसी कारण उनसे पुनः मिलने का सुयोग न आ सका। परन्तु पंडित जी के दिये हुए प्रोत्साहन से मेरा उत्साह बढ़ता गया और आगे चल कर दो भिन्न-भिन्न मार्गों से तीव्रता के साथ शुद्ध-स्वर-सप्तक सम्बन्धी विचार करना मैंने जारी रखा। पहला अर्थात् लोक गीतों में आने वाले सप्तकों का वैदिककाल से लेकर आज तक जो तर्जे-धुनें प्रचलित हुईं उनके पृथक्करण से विचार करना तथा दूसरा सर्व गायन वादन का आधार जो तंबूरा है, उसके घोष-स्वर का ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से पृथक्करण करके उस पर से हमारी पद्धति के मूल संवाद-युक्त स्वरसप्तक को निश्चित करना है। यह दोनों विचार मैंने 'हिन्दुस्तानी म्यूज़िक' नामक अंग्रेजी ग्रंथ में सविस्तर दिये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल पंडित जी के दिये हुए उत्तेजन तथा प्रोत्साहन के कारण ही मैं इस कार्य को दृढ़तापूर्वक कर सका।

## संसार भर के इतिहास में अनन्यतम

ठाकुर जयदेव सिंह, वाराणसी

संगीत के लिये पंडित जी ने जो मुख्य काम किये, उनको आँकने का प्रयत्न करता हूँ। क्रियात्मक संगीत और शास्त्र दोनों को पंडित जी से बहुत कुछ मिला है। क्रियात्मक

संगीत के लिये उनका सबसे बड़ा कार्य यह है कि जिन चीजों को अच्छे-अच्छे उस्ताद किसी को भी नहीं सिखलाते थे, उन सब का संग्रह करके बहुत ही सरल स्वरलिपि में उन्हें लिख कर छः भागों में पंडित जी छोड़ गये हैं। जो सबसे बड़ा परिदान इस दिशा में उनका है, वह है लक्षणगीतों की रचना। पंडित जी के पहले हमारे संगीत में लक्षण-गीत नहीं के बराबर थे। पंडित जी ने लगभग तीन-चार सौ लक्षणगीतों की रचना की। इनमें राग के लक्षण गीतों में लिखे गये हैं। जिनमें विद्यार्थी को गीतों में ही रागों के लक्षण याद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त पंडित जी ने कुछ ख्याल, ध्रुवपद, धमार, तराने इत्यादि की भी रचना की। पंडित जी एक बहुत निपुण वाग्गेयकार या कम्पोज़र थे।

दूसरा परिदान उनका संगीतशास्त्र का है। श्रीमल्लक्ष्यसंगीत और हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के चार भाग उसके प्रमाण हैं। रागों के नियमों में जो उच्छृंखलता आ गई थी, उसको पंडित जी ने सुधारा और हमारे राग व्यवस्थित हो गये। हमारे रागों के प्रमाणीकरण (स्टेन्डर्डाईज़ेशन) का बहुत कुछ श्रेय पंडित जी को है। वे ग्रन्थ बहुमूल्य थाती के समान पंडित जी हमारे लिये छोड़ गये हैं।

पंडित जी का तीसरा परिदान रागों के वर्गीकरण का है। पुराना राग-रागिनी पुत्र का वर्गीकरण आधुनिक संगीत के लिये निरर्थक हो गया था। एक राग का दूसरे राग से क्या संबंध था, इसका पता चलाना असम्भव हो गया था। पंडित जी ने दस थाटों में हिन्दुस्तानी रागों का वर्गीकरण सुगमता से कर दिया।

पंडित जी का चौथा परिदान है रागों के समय की नियम स्थापना। प्राचीन समय से हिन्दुस्तानी रागों के गाने-बजाने के समय बँधे हुए हैं। भैरवी प्रातः गाई जाती है तो पूर्वी सायंकाल। सारंग मध्याह्न में गाया जाता है तो बागेश्री मध्यरात्रि को। किसी भी शास्त्र में समय के बन्धन का कोई कारण नहीं बतलाया है। यह एक निराधार कल्पना जान पड़ती थी। पर पंडित जी ने रागों का तुलनात्मक अध्ययन करके देखा कि विशेष स्वरों के राग विशेष समय पर गाये जाते हैं और वही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने रागों के समय के नियम की युक्ति-युक्ति स्थापना की है।

पाँचवाँ परिदान पंडित जी का यह है कि उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत के क्रमिक विकास का विशद स्पष्टीकरण किया है। इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन उनके "कंपेरेटिव स्टडी ऑफ द म्यूज़िक सिस्टिम्स इन फिफ्टीन्थ, सिक्सटीन्थ, सेवनटीन्थ एन्ड एट्टीन्थ सेनच्युरीज" और 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' के पढ़ने से मिलता है।

चाहे शास्त्र की दृष्टि से देखें अथवा क्रिया की खोज की दृष्टि से या प्रचार की; संगीत की शिक्षा की दृष्टि से भी पंडित जी ने जो संगीत की सेवा की है, वह अद्वितीय है। केवल "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति" के चार भाग लगभग २,५०० पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। क्रमिक संगीत के छः भाग २,६५४ पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम् तथा और छोटे-छोटे ग्रन्थों को मिलाकर उन्होंने लगभग ६,५०० पृष्ठों के मुद्रित और प्रकाशित ग्रंथ हमारे संगीत को दिये हैं। अभी उनकी दैनंदिनी और कुछ छोटे-छोटे लेख अप्रकाशित ही पड़े हैं। एक व्यक्ति के लिये इतना कार्य असम्भव जान पड़ता है। पर पंडित जी ने असम्भव को सम्भव करके दिखलाया।

पंडित जी को आर्थिक सहायता किसी से न मिली। पुस्तकों के मूल्य उन्होंने नाममात्र के रखे थे। और इसके विक्रय से जो रुपया आता था, वह उनके पुनः प्रकाशन में व्यय होता था। गीतों और ग्रन्थों की खोज में उन्हें दर-दर की खाक छाननी पड़ी, अपमान सहना पड़ा, विरोध का सामना करना पड़ा। पर पंडित जी का कितना अदम्य उत्साह था, कितनी अडिग लगन थी, कैसी दृढ़ साधना थी। सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके उन्होंने अपने महान् व्रत को पूर्ण किया। भारत के ही संगीत के इतिहास में नहीं, किन्तु संसार भर के संगीत के इतिहास में मुझे दूसरा उदाहरण नहीं मालूम है, जहाँ अकेले एक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में संगीत के लिये इतना कार्य किया हो, जितना पंडित जी ने किया है।

## हर कोई शिक्षक नहीं हो सकता

आचार्य गोविंदराव राजूरकर, अजमेर

ग्यारह वर्ष की अल्प-सी आयु में पं० भातखण्डे के समक्ष परीक्षा देने के लिये उपस्थित होने का मुझे अवसर मिला। संगीत की महानता, अगाधता समझने के लिए कितने परिश्रम, कितनी साधना की आवश्यकता होती है, इसका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं था। परीक्षा कक्ष में प्रवेश करते ही मेरी ओर ऐसे वात्सल्यभाव से वे देखने लगे कि सारा डर और झिझक दूर हो गयी। कभी करांगुलियों से स्वर पूछते, तो कभी बात ही बात में टेढ़े से टेढ़े स्वर मुझ से इस प्रकार गवा लेते कि गायन का अभ्यास एक मनोरंजक विषय है, वह कोई नीरस हमाली नहीं; ऐसा मुझे पहली बार प्रतीत हुआ। पं० भातखण्डे परीक्षा के प्रश्न ऐसे हँसते-खेलते हुए पूछते जा रहे थे कि विचार और संकेतों की उनकी शृंखला का स्मरण होते ही एक महान् कलाकार का व्यक्तित्व सामने आ जाता है। उनकी सावधानता, एकाग्र-चित्तता, कण्ठ-स्वाधीनता पर आज भी उतना ही आश्चर्य हो रहा है, जितना कि उस प्रसंग पर हुआ था। उस कलापूर्ण दृश्य का वर्णन करने के लिये शब्द-सृष्टि असमर्थ है। मेरी परीक्षा नहीं हो रही थी मानो अपने नाना के पास बैठ कर विनोद-आनन्द में हंस-खेल रहा था।

गुरुवर्य राजाभैयाजी एक पैर से लंगड़े थे। चलते समय किसी दूसरे का सहारा लेते। कई अवसरों पर पंडित जी से मिलने के लिए उनके साथ ग्वालियर के नौतासा गेस्ट हाऊस में मैं भी जाता रहा। किन्तु सन् १९३० में मेरी अन्तिम परीक्षा का वह प्रसंग आज भी मुझे याद आता है। परीक्षा के पूर्व एक बार राजाभैयाजी के साथ मैं भी उनसे मिलने के लिये गया था। पंडित जी ने मुझसे पूछा, "कैसी तैयारी है? आजकल क्या सीख रहे हो?" मैंने कहा, "दरबारी में—मधुवा भर ला दे—सीख रहा हूँ।" सुनाने की मुझे तुरन्त आज्ञा हुई। गीत का अर्थ तो मैं पूर्णतः दुर्लक्षित कर चुका था। हाँ,

राग की ओर सावधान अवश्य था। 'भर ला दे' इन शब्दों का उच्चारण करते ही 'ला' अक्षर के साथ दरबारी के गान्धार का उच्चार किस भाव से करना चाहिए, मुझे तत्काल समझाया। संगीत भले ही मुख्यतः स्वर प्रधान होता हो, परन्तु गीत में शब्दोच्चारण भी सांगीतिक उच्च शिक्षा का विषय होता है और इसी के द्वारा गायक अपनी सुसंस्कृतता का परिचय देता रहता है—यही तथ्य भिन्न-भिन्न उदाहरणों सहित वे मुझे समझाते गये। पुष्टीकरणार्थ कई गीतों को उन्होंने गाकर दिखाया। ताल के आवर्तनों को दोहराते समय उसमें आने वाले वाक्यांशों को, शब्दांशों को कहाँ पर किस प्रकार से तोड़ना चाहिए, स्वयं गाकर समझाया। "राधिका रमण गिरिधरन गोपीनाथ" अहीर-भैरव में झपताल के दो आवर्तनों में यह वाक्यांश रखा गया है। अतः ऐसे गीतों में केवल प्रथम पंक्ति को बार-बार गाते रहना दोषपूर्ण है। इससे अर्थहानि होती है। इन सारी बातों को इतनी आत्मीयता और विस्तार से वे समझाते गये कि पन्द्रह वर्ष की मेरी आयु होते हुए भी उसका स्मरण आज ज्यों-का-त्यों हो रहा है।

स्वयं मैं भी गाता हूँ और कई यशस्वी गायकों को अति निकट से गाते हुए देख चुका हूँ, उनसे प्रभावित भी हुआ हूँ। परन्तु एक सफल शिक्षक होना कितना कठिन है—इसकी कल्पना पं० भातखण्डे जी के सान्निध्य में व्यतीत किये हुए वे अमौलिक क्षण सदैव कराते रहते हैं।

## मेरे कंठ के सुधार का श्रेय पं० भातखण्डे को ही है

आचार्य एम० ए० गोलवलकर, इन्दौर

प्रातःस्मरणीय स्व० भातखण्डे जी का स्मरण जब कभी मैं अपना गायन प्रारम्भ करता हूँ, स्वतः ही हो आता है। मस्तक अनायास ही श्रद्धायुक्त भक्तिभाव में नत हो जाता है। इसका कारण एक ऐसी घटना है जो निम्न प्रकार है :—

माधव संगीत महाविद्यालय, ग्वालियर के प्रारम्भिक समूह का विद्यार्थी होने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पूर्णतः शासकीय अनुदान से स्थापित करने का पं० भातखण्डे जी का यह एक नूतन प्रयास था। अतः वे स्वयं वर्ष में कई बार ग्वालियर पधारते थे तथा विद्यालय का निरीक्षण और मार्गदर्शन करते थे। स्वभावतः प्रथम बैच के विद्यार्थियों की ओर उनका बहुत ध्यान रहता था। वे स्वयं हम सब को अपनी अमोघ वाणी से शास्त्र तथा कठिन-कठिन गीतों और रागों से परिचित कराते। उन विद्यार्थियों में कुछ ऐसे भी थे जो उस समय स्कूलों में भी अध्ययन करते थे। मैं भी ऐसा ही विद्यार्थी था। अंग्रेजी के साथ संस्कृत भी मेरे विषयों में होने के कारण भातखण्डे जी की मुझ पर विशेष कृपा रहती थी।

शैशवावस्था की मेरी आवाज नैसर्गिक कारणों से आयु के पन्द्रहवें वर्ष में एकदम परिवर्तित होने लगी। इतनी खराब हो गई कि मैं यह समझ बैठा कि मेरा कंठ अब संगीत

के लिये एकदम अनुपयुक्त हो गया है और फलस्वरूप सङ्गीत महाविद्यालय में जाना मैंने बन्द कर दिया। कुछ दिन पश्चात् पंडित जी बंबई से ग्वालियर पधारे। विद्यार्थियों में मेरी अनुपस्थिति उन्हें असहनीय लगी। तत्काल राजाभैयाजी को मुझे बुलाने भेजा। मैं जब उपस्थित हुआ तो मेरी अड़चन सुन कर मुझे बड़े प्रेम से समझाया और निसर्ग का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर होता है, इसलिए चिंता न करने को कहा। मेरे गुरुदेव स्व० दातेजी को कुछ सूचनाएँ दीं और मुझे आदेश दिया कि प्रतिदिन तीन घंटे दाते गुरुजी के समक्ष ही अभ्यास करते रहो, घर पर नहीं। इसके साथ ही स्वयं गाकर कहा कि अब तेरी आवाज इस प्रकार हो जावेगी।

आज्ञा का पालन मैंने किया। लगभग चार महिने भातखण्डे जी ने जो क्रियाएँ (एक्सरसाइज़) बताई थी, उनके अनुसार गुरुदेव दाते जी मेरा अभ्यास अपने सामने कराते रहे। और जब दुबारा भातखण्डे जी पधारे तो महाविद्यालय में एक समारोह आयोजित कर उसमें मुझे गाने को कहा गया। मेरी आवाज सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया कि 'बेटा, अब तुम्हारी आवाज ढंग पर आ गई है, चिंता मत करो।'

आज भी जब कभी गायन का अवसर प्राप्त होता है तो पंडितजी की इस कृपा का स्मरण हो आता है। हृदय प्रेम और श्रद्धा से भर जाता है। धन्य हैं ऐसे गुरु! कहावत है कि "गुरवः विरला सन्ति शिष्य-चित्तापहारकाः।" कुछ लोगों का ख्याल है कि मेरे कंठ में कुछ गुण हैं। यदि यह उनका ख्याल सत्य है तो इस अच्छाई का समस्त श्रेय स्व० भातखण्डे जी को है।

## एक पथभ्रष्ट को कर्तव्य की अनुभूति

आचार्य वा० भा० खाण्डेपारकर, उज्जयनी

उन दिनों स्वयं पं० भातखण्डे जी भारतीय संगीत को पुनः शास्त्र-बद्ध कर उसमें सामूहिक शिक्षा (मास एज्युकेशन) की व्यवस्था कर उसे जन-जीवन के निकट लाने के लिये प्रयत्नशील थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनेक राजा-महाराजाओं का सहयोग उन्हें प्राप्त था। उन्होंने ग्वालियर व बड़ौदा में सङ्गीत महाविद्यालयों की स्थापना की। इस सिलसिले में ग्वालियर आने पर वे प्रायः हमारे घर भी आया करते थे। श्रद्धेय पिताजी स्व० भास्कर राव खाण्डेपारकर उनके सहयोगियों में थे। मैं तब बहुत छोटा था। पिताजी की तीखी आँखों से भयभीत होकर रोजाना गाने का अभ्यास करने को अवश्य बैठता था, परन्तु कुछ आसपास के वातावरण और कुछ बाल्यकाल से खेलकूद में रुचि होने के कारण मेरा मन अभ्यास में न लगता। भातखण्डे जी के आने पर कुल-परम्परानुसार दण्डवत-प्रणाम कर उनका अभिवादन करना पड़ता। उनकी सेवासुश्रूषा का भार भी मुझ को सौंपा जाता। उनको विराट व्यक्तित्व, पिताजी से बात करते समय उनकी अजस्र प्रवाहिता वाणी, उनकी

अपूर्व मेधा मेरे किशोर मन को अभिभूत कर देती। परन्तु खेल-कूद और व्यायाम का नित्य अभ्यास व कसरती मित्रों के संसर्ग में उन सब बातों को दूसरे ही क्षण भुला देता।

आयु की वृद्धि के साथ पिताजी का कड़ा अनुशासन क्रमशः शिथिल होने लगा और मेरे व्यायाम का शौक अपने आप विकसित हो गया। अब मैं अपने नगर का एकमात्र श्रेष्ठ खिलाड़ी ही नहीं वरन् अपनी टोली के साथ दूर-दूर के नगरों में जाकर खेल-कूद की प्रतियोगिताओं में भाग लेता व व्यायाम के कौशल का प्रदर्शन करता। इसी तरह एक बार सन् १९२९-३० में मैं बम्बई पहुंचा। वहां सन्ध्या के समय मित्रों के साथ जब चौपाटी पर घूमने निकला तो एक बेन्च पर चिन्तन की मुद्रा में बैठे पं० भातखण्डे जी दिखाई दिये। मेरे अन्दर के संस्कारों ने मुझे प्रेरित किया और मैंने आगे बढ़ते हुए झुककर उन्हें प्रणाम किया। मुझे इस प्रकार अचानक सामने देखकर पंडित जी ने मराठी में पूछा—"यहाँ कैसे आये ? क्या गाने के लिये आये हो ?" एक गायक के पुत्र से सङ्गीत का एक पुनरुद्धारक यही तो अपेक्षा कर सकता था। उनकी बात सुनते ही मेरे हृदय को धक्का-सा लगा। उनके इस प्रश्न ने एक बारगी ही मेरे अस्तित्व को अन्दर ही अन्दर झकझोर दिया। मेरे व्यायाम का समग्र अभ्यास और उससे प्राप्त सारी कीर्ति की दीवारें नींव से ही काँप उठीं। उस एक क्षण में ही ऐसा लगा कि यह सब मैं क्या कर रहा हूँ। मैंने साहस बटोर कर उनसे अपने आने का उद्देश्य निवेदन किया। सुनकर उन्होंने गहरी साँस ली और बहुत डूबे हुए स्वरों में कहा—"भास्करराव खाण्डेपारकर का लड़का और व्यायाम के प्रदर्शन करता फिरे! अच्छा, ठीक है, देखें आगे क्या-क्या होता है ?" उनकी उस गगन-गंभीर वाणी का एक-एक शब्द मेरे अन्तस की गहराईयों में प्रवेश करता गया। कुछ देर इधर-उधर की बातें कर जब मैं वहाँ से चला तो मैं स्वयं के प्रति, अपने क्रिया-कलापों के प्रति शङ्काकुल हो उठा था। मेरे मन में बार-बार प्रश्न उठते थे कि क्या मैं जो कुछ कर रहा हूँ, ठीक है ? क्या मैं पथभ्रष्ट हूँ, गलत मार्ग पर अग्रसर हो रहा हूँ ? मैं अपना कर्तव्य निभा रहा हूँ !

अपनी वह यात्रा समाप्त कर इन्हीं विचारों में डूबा हुआ मैं उज्जैन आ पहुंचा। उन दिनों पिताजी यहीं आ गये थे। वहाँ मेरे एक मित्र सङ्गीत की फाइनल की परीक्षा में बैठने की तैयारी कर रहे थे। उनके तथा अन्य साथियों के अनुरोध पर व्यायाम के अभ्यास से बचे हुए समय में मैं उनके पास बैठ कर हारमोनियम से सङ्गत करता रहा। वे धीमी और लचीली आवाज में गाते थे। मेरे कानों पर तो ग्वालियर की ओजपूर्ण गायकी का गहरा प्रभाव था। अतः परीक्षा में उनकी सफलता के विषय में मैं प्रायः शंकित रहता था। पर जब वे प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए तो मुझे लगा, यह मैं भी कर सकता हूँ। भातखण्डे जी की आकृति मेरे मानस में कुछ स्पष्टता से उभरने लगी।

उन दिनों राष्ट्रपिता गाँधीजी के नमक सत्याग्रह से प्रेरित होकर जगह-जगह धरना देने के आन्दोलन हो रहे थे। व्यायाम से पुष्ट देह व राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हृदय वाले युवकों का उस दिशा में प्रवृत्त हो जाना सहज ही था। मैं भी उन गतिविधियों में रुचि लेने लगा। इसी सम्बन्ध में एक बार बेलापुर जाना पड़ा। वहाँ के एक सम्पन्न व्यक्ति हमारे दल के आश्रयदाता थे। रात को उनके यहाँ गाने की महफिल हुई। मुझ से भी

अनुरोध किया गया। मेरा गाना सुनकर वे बोले—"तुम्हें गाना चाहिये। यही तुम्हारे योग्य काम है। और सब फालतू बातें तुम छोड़ दो।" उनकी बातों से भातखण्डे साहब की चौपाटी वाली उस विषण्ण मुद्रा का पुनः स्मरण हुआ। मैं किसी दिवाने की स्थिति में लौटा और सीधे पिताजी के पास जाकर गाना सीखने की इच्छा व्यक्त की। सुनकर पिताजी बोले —"यह बहुत कठिन काम है और तुम्हें तो बहुत अधिक मेहनत करनी पड़ेगी।"

मैंने मन ही मन अंतिम सांस तक प्रयत्न करते रहने का निश्चय किया। गायन का अभ्यास प्रारम्भ हुआ। सुबह चार बजे से दोपहर १२-०० बजे तक और सांयकाल सङ्गीत महाविद्यालय में भातखण्डे साहब की क्रमिक पुस्तक की एक-एक रचना की शत-शत आवृत्ति की। पूरे दो वर्ष पश्चात् 'संगीत अध्यापक' परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ। आज मैं सचमुच सङ्गीत अध्यापक हूँ। गत बीस वर्षों से उसी पावन मन्दाकिनी का पुजारी हूँ। जो भगीरथ भातखण्डे की साधना से सतत् प्रवाहित है। जब पिछले जीवन की ओर मुड़ कर देखता हूँ तो आश्चर्य ही नहीं, असम्भव-सा लगता है। और तभी भातखण्डे जी का उदार ओजपूर्ण व्यक्तित्व सहसा स्पष्ट होने लगता है। यह परिवर्तन उनके महान् दर्शन की ही तो प्रेरणा है। आज भी जब नगर में कोई खेलकूद की प्रतियोगिता होती है तो पैर अनजाने ही उस ओर बढ़ जाते हैं। रेडियो पर प्रसारित क्रिकेट की कामेन्टरी अनजाने ही कान सुनने लगते हैं। पर जब सङ्गीत विद्यालय में साधारणतः छात्र-छात्राओं के स्वर कानों में पड़ते हैं, एक अनूठे आत्मसंतोष से जी भर उठता है। अनोखे आत्म-गौरव से ग्रीवा तन जाती है और झुक जाता है मेरा सिर उस महान् पुरुष की स्मृति में, जिसके दर्शन मात्र ने बदल दीं मेरी राहें और जिन्दगी!

## रावसाहब के शब्दों में उनकी अपनी कहानी

श्री दाराशा एम. कात्रक, बम्बई

दिनांक ६ अगस्त १९३२! इसी दिन मित्रवर पंडित भातखण्डे ने अपना आत्मवृत्त संक्षेप में मुझको बताया था। मेरे बार-बार अनुरोध करने पर उन्होंने मुझसे वायदा किया था कि सायंकाल में जब घूमने चलेंगे तब अपना आत्मवृत्त सुनाऊँगा।

सायं ५ बजे एक भव्य व्यक्ति शांताराम हाउस, मलबार हिल से निकल कर चौपाटी की ओर जा रहा था। जैसी विशाल एवं विलोमनीय काया वैसी ही आकर्षक एवं वैशिष्ट्यपूर्ण वेशभूषा। प्रतिदिन इसी समय पर जब वे टहलने निकलते, मार्ग पर चलने वाले सभी व्यक्तियों का ध्यान अनायास ही उनकी ओर खिंच जाता। मलबार हिल का अंतिम ढलान वे उतर रहे थे कि मार्ग में ही आतुरता से मैं उनके साथ हो गया। अपने आश्वासन का स्मरण दिलाते ही संकोच, नम्रता तथा दायित्व की मिलीजुली छटा उनके मुख पर छलकने लगी। ढलान पार कर हम दोनों दरिया किनारे मैदान पर आ गये और एक बेंच पर

बैठ गये। सम्पूर्ण वार्ता अंग्रेजी में हुई, जिसे उसी समय कागज पर मैं लिखता गया। उनके वे शब्द आज भी कानों में गूंज रहे हैं। ऐसा लगता है मानों अभी-अभी उनसे बात करके आया हूँ। उस दिन के वे कागज, जो मेरे पास एक धरोहर के रूप में आज भी सुरक्षित हैं, अपने परम मित्र की स्मृति को ताजगी दिलाने की अभिलाषा से प्रस्तुत करता हूँ।

"जन्म से ही बालकेश्वर के अपने पुश्तैनी मकान में मैं रहता आया। गायनोचित मधुर कंठ मैंने अपनी माताजी से पाया। शैशवावस्था में पाठशाला के स्नेह सम्मेलनों में कविता गायन के लिये प्रायः मुझे ही उपस्थित किया जाता था। हमारे घर के पास ही एक सज्जन, रहते थे जिनकी आयु ५० वर्ष की थी। पन्द्रह वर्ष की मेरी अवस्था के समय उन्होंने सितार पर शास्त्रीय संगीत की मुझे प्रारंभिक शिक्षा दी। संगीत से मेरा लगाव जन्म से ही था। शिक्षा का अवसर पाते ही अपने इन आद्य गुरुजी की समग्र विद्या मैं आत्मसात् कर अन्य एक वैश्य जातीय सितारिये से आगे की शिक्षा लेता रहा। जूनियर बी० ए० की कक्षा तक यह क्रम चलता रहा। संगीत में अत्यधिक रुचि रखने के कारण कालेज की इस परीक्षा में एक बार मैं असफल भी हो गया। बालकेश्वर तालाब के पास टहलते हुये मि० हार्ट नामक एक स्माल-काज कोर्ट के वरिष्ठ न्यायाधीश से मेरी भेंट हुई। उस दिन छुट्टी थी, अतः वार्तालाप विस्तार से हुआ। हमारे कुटुम्ब की आर्थिक परिस्थिति संतोषप्रद न होने के कारण श्री हार्ट महोदय को मैंने अपनी अड़चनें बतायीं। परिणामस्वरूप उनके ही कोर्ट में रजिस्टर क्लर्क के स्थान पर सात रुपये मासिक वेतन पर उन्होंने मुझे रख लिया। कुछ ही समय बाद श्री हार्ट हाईकोर्ट में चले गये और मेरी अपनी समस्याएँ मुझे पुनः सताने लगीं। पिताजी के एक मित्र श्री शांताराम जी वकील थे, उन्होंने एक कारखाने में पचीस रुपया माहवार पर मुझे एक दूसरी नौकरी दिलायी। बी० ए० की परीक्षा मेरी अभी तक शेष थी। दफ्तर से तीन माह की छुट्टी लेकर सन् १८८१ में यह परीक्षा मैंने उत्तीर्ण की। इसी वर्ष पिताजी स्वर्गवासी हुए और अपनी विधवा माता, छोटे भाई के भरण-पोषण का सारा संपूर्णतः मुझ पर आया। सन् १९०० में धर्मपत्नी के परलोक सिधारने के बाद केवल तीन वर्ष में अपनी एकमात्र पुत्री को भी मैंने खोया। इसके उपरान्त सन् १९१७ में माताजी के स्वर्गवासी हो जाने पर तो सभी पारिवारिक दायित्वों से मैं पूर्णतः निवृत्त हो गया। धर्मपत्नी के निधन के समय कुछ दिन के लिये एल्फिन्स्टन हाईस्कूल में शिक्षा भी देता रहा। इसी विद्यालय के श्री शपूर स्पेन्सर नामक सज्जन से मेरी घनिष्ठ मित्रता थी। इन्हीं के कारण गायनोत्तेजक मंडली से मेरा संपर्क हुआ। पिताजी कुछ कर्ज छोड़ कर गये थे। अपनी पचीस रुपया माहवार की आमदनी कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये ही पर्याप्त नहीं थी, पिताजी का कर्ज मैं कहाँ से चुकाता? श्री शांताराम जी से उत्साह पाकर एल० एल० बी० करने का मैंने निश्चय किया। कालेज के शुल्कादि की व्यवस्था श्री शांताराम जी ने ही कर दी। बस, फिर क्या था। यह परीक्षा भी उत्तीर्ण कर डाली। उस समय शांताराम जी कराची में शिक्षण कार्य करते थे। अतः उनके पीछे कराची हाईकोर्ट की सनद लेकर वहाँ पहुंच गया। वहाँ पर मेरा काम काज ठीक ही चल रहा था। कुछ धन भी अर्जित कर लिया था, इतने में माताजी अस्वस्थ हो गईं और मुझे बम्बई लौटना पड़ा। शांताराम जी ने बम्बई में ही स्थायी रूप से रहने

की तब मुझे सलाह दी, जो मुझे स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु हाय! थोड़े से ही समय बाद मुझे एकाकी छोड़कर वे स्वयं ही परलोक सिधार गये।

मेरे मित्र श्री शपूर स्पेन्सर इस समय तक वकील हो चुके थे। वे पुलिस कोर्ट के मामले चलाते थे। उनके दफ्तर में ही मैं काम करने लगा और स्माल काज कोर्ट के मामले मेरे पास आने लगे। इस प्रकार बम्बई में भी वकालत का मेरा कामकाज पुनः एक बार सुव्यवस्थित हो गया। शीघ्र ही मैं अपना स्वयं का कार्यालय पृथक् रूप से खोल सकने में सफल हुआ।

परम मित्र शांताराम के जामाता श्री सीताराम इन्हीं दिनों में अचानक स्वर्गवासी हो गये। वे अपने पीछे छः तथा चार वर्ष के दो बालक छोड़ गये थे। इस कुटुम्ब की देख-भाल का सारा दायित्व मुझे ही स्वीकार करना पड़ा। श्री शांताराम के महद् उपकार मैं भूल न सका। उन्हीं से उत्साह, सहाय्य पाकर मैं अपना जीवन सुव्यवस्थित कर सका था। इन बच्चों का संरक्षक अब मुझे ही बनना पड़ा। तब से इसी कुटुम्ब के साथ मैं रहता हूँ। वर्ष में छः माह मालाड के बंगले में और छः माह बम्बई में। बान्द्रा तथा थाना की अदालतों में मेरी वकालत अच्छी चल रही थी। गायनोत्तेजक मंडली का भी अवैतनिक सदस्य हो गया था। मंडली की कार्यकारिणी में भी चुन लिया गया था। सुन्दर एवं निकट-वर्ती अनेक गायक-वादक हमारी इस मंडली में प्रायः आते रहते थे। उनसे मेरा सम्पर्क हो जाता तथा सद्यः संगीत की विपुल सामग्री एकत्रित करने का मुझे सुयोग प्राप्त हुआ। इसी बीच एक शास्त्री महाराज से मेरा परिचय हुआ। संस्कृत भाषा में लेखन तथा छंदो-बद्ध रचना करने का उनसे मैंने विधिवत् शिक्षण लिया। बिना शास्त्राधार के संगीत कला की उन्नति होना असंभव जानकर 'लक्ष्यसंगीत' की रचना करने को मैंने सोचा। लक्ष्यसंगीत का लेखन पूर्ण हो जाते ही इस पुस्तक पर विस्तृत रूप से टीका लिखने की बात सोची। हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति नामक इस ग्रंथमाला के तीन भाग अब तक लिख चुका हूँ।

सन् १९०३ में अपनी पुत्री का देहावसान हो जाने पर संसार से मुझे विरक्ति होने लगी। देशभर के भ्रमण की इच्छाएँ जागृत हुईं। संगीत से संबंधित जो-जो बातें देश में मौजूद थीं, उन्हें वहाँ स्वयं जाकर देखने, जाँचने-पड़तालने और सीखने की इच्छा होने लगी। स्थान-स्थान से प्राप्त की हुई संगीत की जानकारी बहुत विशाल मात्रा में मेरे पास इकट्ठी हो गई थी। ज्यों-ज्यों विद्या अर्जित करता गया, संगीत के अध्ययन, गवेषण, अनुसंधान में ही अपना उर्वरित आयुष्य लगा देने को सोच लिया। क्रमिक पुस्तक मालिका के सभी भाग मेरे अभी तक के अखण्ड संकलन का परिणाम हैं।

बम्बई में दो-तीन विद्यालयों द्वारा संगीत का शिक्षण और प्रसार मैंने अब तक किया है। बहुत परिश्रम के बाद सन् १९२५ में लखनऊ में मैरिस कालेज आफ हिन्दुस्तानी म्यूजिक की स्थापना कर सका। बड़ौदा, ग्वालियर, रामपुर, नवानगर आदि देशी रियासतों में संगीत के विद्यालय स्थापित कर सकने में सफल हुआ हूँ। जहाँ पर भी अवसर मिला, संगीत की अच्छाइयों की ओर सभी का ध्यान आकर्षित करता आया हूँ। उपरोक्त सभी विद्यालयों में मैंने स्वयं शिक्षा प्रदान की है। संगीत द्वारा किसी भी प्रकार का आर्थिक लाभ

न स्वीकारना मेरा नियम है। द्रव्य के रूप में कोई भी पारिश्रमिक स्वीकार न करने की शपथ मैंने स्वयंस्फूर्त से ग्रहण की है।

आज १९३२ का अगस्त मास चल रहा है। ७३ वर्ष की मेरी अवस्था हो चुकी है। मन की उड़ान के साथ शरीर काम नहीं करता। कुछ बहरा भी हो गया हूँ। रक्तचाप के कारण शरीर जीर्ण हो गया है। निद्रादोष का भी शिकार हूँ। शांतिपूर्वक सो जाने का प्रयत्न करता हूँ तो मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न प्रकार की सुरीली, बेसुरीली ध्वनियाँ उठने लगती हैं। बस ! यही है मेरी इस क्षण तक की अपनी कहानी है।

चलिये, पर्याप्त समय बीत गया। आज की चर्चा के लिये आपने भी क्या बेतुका विषय चुन लिया। अपनी स्वयं की बातें कहीं कहने-सुनने का विषय होता है ?"

## संत और कैसे होते हैं ?

श्री गजानन नारायण रातांजनकर, बम्बई

पंडित जी का दर्शन-परिचय, संभाषण तथा सहवास सन् १९२३ से लेकर उनके निर्वाण समय तक अति निकट रूप से मुझे प्राप्त हुआ। इसके पूर्व अर्थात् सन् १९११-१२ में उनसे संबंधित केवल दो घटनाएँ मुझे याद हैं। उस समय हम लोग बम्बई में दो हाथी के समीप मंगलदास बाड़ी (जिसे आजकल त्रिभुवन रोड कहते हैं) के पास रहते थे। पिता जी कुछ दिनों के लिये छुट्टी पर थे। एक दिन मैंने देखा कि पिता जी किसी एक मोटी-सी पुस्तक, जो मराठी में लिखी हुई थी, पढ़ने में व्यस्त हैं। उस दिन सारी रात जाग कर किसी उपन्यास की भाँति पुस्तक को उन्होंने पढ़ डाला। उस पुस्तक में इतना क्या आकर्षण था, मैं समझ न सका। इसी पुस्तक के साथ-साथ देवनागरी लिपि में लिखी हुई दूसरी एक पुस्तक भी वे बीच-बीच में देखते रहते थे। दो-एक बार पुस्तक में झाँक कर मैंने देखा, जहाँ तहाँ "मेले, मेले" लिखा हुआ था। यह दूसरी पुस्तक मराठी भाषा में तो थी नहीं। आसावरी मेले, पूर्वी मेले, तोड़ी मेले और न जाने कितने ही "मेले" पुस्तक के उन पृष्ठों में मैंने पाये। आगे चल कर जब मैं समझने लायक हुआ, तब ज्ञात हुआ कि पिता जी को मोहित करने वाली वह दोनों पुस्तकें पंडित भातखण्डे द्वारा लिखित 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' का प्रथम भाग तथा 'श्रीमल्लक्ष्यसंगीतम्' थीं। बाद में पिताजी ने ही हमें बताया कि पंडित जी की वे दोनों पुस्तकें समग्र पढ़ने के बाद मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि "वर्तमान समय में पंडित भातखण्डे ही एक मात्र व्यक्ति हैं जो हिन्दुस्तानी संगीत में वास्तविक अधिकार रखते हैं।" पिता जी को संगीत से शौक तो था ही, परन्तु संस्कृत भाषा का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया था। संगीत पर लिखा हुआ बहुत-सा परिचित साहित्य उन्हें अवगत था, और इसीलिये पंडित जी की इन दोनों पुस्तकों का एकाग्र चित्त से उन्होंने आमूलाग्र सूक्ष्म अध्ययन किया। उनकी इस ग्रंथमाला में अनेक विषयों की सहज एवं सुव्यवस्थित रचना, विचार प्रणाली, विषय प्रतिपादन करने की शैला, पुरानी निराधार कल्पनाओं व

मान्यताओं को अंधश्रद्धा से न दोहरा कर समंजस एवं तर्क शुद्ध विवेचन करते हुए आदान-प्रदान करने की प्रवृत्ति, प्रतिपाद्य विषय सुलभ, आकर्षक तथा विनोद-प्रचुर भाषा में समझाने के उनके प्रयासों के कारण स्वयं मराठी भाषा पर्याप्त समृद्ध हो चुकी है। संगीत विषय को कुछ समय के लिये दूर रखने पर भी 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' की इन चारों पुस्तकों ने मराठी वाङ्मय की गौरवशाली वृद्धि की है। परन्तु बड़े खेद का विषय है कि इस ग्रंथ माला का गौरव तो क्या उसका साधारण उल्लेख अथवा परामर्श भी हमारे मराठी के वाङ्मय पंडितों ने अभी तक यथायोग्य नहीं किया। इनमें से अधिकांश पंडितों ने तो स्वयं संगीत विद्या को ही पर्याप्त महत्व नहीं दिया है, अतः इन पुस्तकों के प्रति उनकी उदासीनता अथवा अज्ञानता कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। कालायतस्मैनमः।

इसी समय की दूसरी एक घटना आज भी मेरे स्मरण में है। उपरोक्त दोनों पुस्तकों का अध्ययन कर चुकने के बाद पिता जी मेरे ज्येष्ठ भ्राता को पंडित जी के पास बार-बार ले जाने लगे। स्वयं पंडित जी उन्हें शिक्षा देने लगे। घर लौटने पर पिता जी के समक्ष बड़े भाई साहब को उन गीतों पर खूब अभ्यास करना पड़ता। वे सब गीत आज भी हमारे कुटुम्बियों को कंठस्थ हैं। उनमें से कुछ गीतों का स्मरण होते ही पंडित जी, पिता जी तथा ज्येष्ठ भ्राता इन तीनों में संगीत की जो मनोरंजक चर्चाएँ होती थीं, वह सारी घटनाएँ चित्रवत् सामने आती हैं।

इसके बाद पिताजी का बम्बई से स्थानान्तरण हुआ। समय-समय पर उनकी चिट्ठियाँ आती रहती थीं। पंडित जी के हस्ताक्षर से हम लोग भली-भाँति परिचित थे। उनका हस्ताक्षर सुंदर, घुमावदार तथा विशिष्ट ढंग का था। अर्थात् वाक्य पूर्ण होने तक मूलाक्षर तथा शब्द कहीं भी पृथक न लिखने के कारण वह शृंखला के समान एक में एक जुड़ा हुआ प्रतीत होता था। अंग्रेजी भाषा पर उनका कैसा प्रभुत्व था, यह समझ पाने की मेरी आयु उस समय नहीं थी। १९२०-२२ की कालावधि में पंडित जी द्वारा लिखित 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' के तीनों भाग पढ़ चुकने के कारण मैंने उनसे अप्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर लिया था। उनके छायाचित्र भी देखे थे। बाद में १९२४ में बंबई वापस लौटने पर उनके दक्षिण-पूर्व तथा उत्तर भारत के प्रवास का वृत्तांत मेरे देखने में आया। उसे पढ़ने तथा प्रतिलिपि बनाने के कारण मेरा उससे अधिक परिचय हुआ। साक्षात् दर्शन होने के पूर्व इतनी भूमिका तैयार हो जाने पर मेरे मन में पंडित जी के विषय में पूज्य-भाव, अभिमान तथा कुतूहल जागृत होना स्वाभाविक ही था।

सन् १९२३-२५ के दरम्यान पंडित जी के प्रत्यक्ष दर्शन का, चौपाटी पर उनका वार्तालाप सुनने का, प्रसंगवशात् संभाषण का, उनके व्याख्यानादि सुनने का, शारदा संगीत विद्यालय में साप्ताहिक पाठ सुनने तथा ग्रीष्मावकाश में मालाड के बँगले में एक विशाल आम्रवृक्ष के नीचे मेरे ज्येष्ठ भ्राता डा० श्रीकृष्ण रातांजनकर तथा पंडित वाड़ीलाल को तालीम देते समय श्रवण करने का सुयोग मुझे प्राप्त हुआ। पंडित जी का प्रथम दर्शन सालिसिटर सुकथनकर जी के निवास स्थान पर पंडित जी के अध्ययन कक्ष में हुआ था। देखते ही उनके विलोभनीय व्यक्तित्व का मेरे मन पर अमिट प्रभाव हुआ। मैं अनुभव कर रहा

था कि किसी व्यक्ति को छायाचित्र में देखना और उससे प्रत्यक्ष साक्षात्कार करने में कितना अधिक अंतर रहता है।

क़द की ६--६। फीट की ऊँचाई, गौरवर्ण, लंबे हाथ पैर—मानों आजानुबाहु–विस्तीर्ण कान, सरल, दीर्घ और नोंकदार नासिका, विशाल भालप्रदेश, बड़ी-बड़ी आँखें, सतेज सौम्य परन्तु क्षण में ही समस्त आकलन करने वाली तीक्ष्ण दृष्टि, हृदयस्पर्शी, धारा प्रवाही तथा मधुर वाणी, चलना शीघ्र और लम्बी डगें डालते हुए, बूट, पैंट, शर्ट, जाकिट और उसी में लटकती हुई पाकेट वाच, ऊपर पारसी बंद-कालर का लम्बा कोट, पूनाशाही पगड़ी तथा कंधे पर दुपट्टा आदि वेषभूषा जो कि उस समय के प्रचलन के अनुसार थी। ऐसे भव्य व्यक्ति से केवल बातचीत करना भी सर्वसाधारण के लिये कितना कठिन है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसकी अनुभूति मुझे चौपाटी पर हुई। अक्सर आगंतुकों में से कई लोग उनके साथ चर्चा करते समय घबराहट अनुभव करते थे। वे स्वयं वकील होने के कारण अपनी बात सरल, सावकाश एवं क्रमबद्ध रीति से कहते थे। फिर भी सामने वाला व्यक्ति बीच-बीच में,अटकते हुए, शब्दों की पुनरुक्ति करता अँ,...अँ....अँ आदि जैसे निरर्थक शब्द प्रयोगों का बीच-बीच में उच्चार करते हुए समय व्यतीत करता रहता। ऐसे प्रसंग मेरे लिये बहुत मनोरंजक होते थे। प्रतिदिन सायं ५॥ से ७॥ बजे तक चौपाटी पर विल्सन कालेज के सामने वाले किसी बेंच पर वे अक्सर बैठा करते थे। वालकेश्वर से डेढ़ मील की ढलाव उतर कर आना व पुनः चढ़कर जाना—यह उनका परिपाठ व्यायाम के लिये ही था, ऐसा मुझे लगता है। चौपाटी पर प्रतिदिन भेंट करने वाले व्यक्तियों में मुख्यतः पंडित बाड़ीलाल, शंकरराव कार्नाड, द० के० जोशी, मेरे भ्राता एवं पिताजी आदि थे। इसके अतिरिक्त नगर महापालिका का संगीत शिक्षक वर्ग, कुछ संगीतप्रेमी पारसी सज्जन, संगीत के अन्य रसिक, कोई खाँ साहब आदि भी कभी-कभी उनसे भेंट करने आ जाते थे। नियमित रूप से तो नहीं परन्तु कभी-कभी पिता जी के साथ में भी जाता रहता। वहाँ पर होने वाली चर्चा केवल संगीत पर ही होती थी। अन्य विषयों में पंडित जी कदापि रुचि न दिखाते थे। एकत्रित सज्जन प्रायः श्रोताओं की भूमिका ही करते रहते। भाषण पंडित जी का ही चलता रहता था। वे इतना आकर्षक बोलते कि सुनते मन नहीं अघाता। कितना समय बीत गया कितना शेष रहा—किसी को इसकी सुध न रहती। उनके साथ बोलते समय उनके व्यक्तित्व के प्रभाव में आकर अनेक सज्जन व्यर्थ ही घबराए हुये प्रायः देखे जाते। किसी बात की मामूली-सी सूचना देने के लिये आया हुआ व्यक्ति वाद्य संगीत के जल्से को गायक की बैठक कह देता, तो जल्से की तारीख बताने में भूल कर देता। उस पर फिर हँसी-मज़ाक चलता। अनेक प्रश्न पूछे जाते, तब कहीं बेचारा अपने मनोगत भाव सुस्पष्ट कर पाता।

गायक-वादकों के साथ वे किस प्रकार चर्चा करते, इसका विस्तृत वर्णन उनके लेखों में जहाँ-तहाँ पाया जाता है। ऐसे ही एक खाँ साहब के छद्मी परन्तु उद्दाम बातचीत का अपनी विलोमनीय संभाषण पद्धति से उन्होंने दृष्टान्त दिया था। उन खाँ साहब की (जिनका नाम उन्होंने नहीं बताया) खास तालीम अपने पुत्र को दिलवाने के लिये एक सज्जन उनके पास गये और कहा—"खाँ साहब, वैसे तो इस लड़के को बहुत अच्छी तालीम मिल

चुकी है। वह तैयार भी काफ़ी हुआ है। फिर भी आप उसमें कुछ मिर्च-मसाला डाल दें तो बड़ी कृपा होगी।" खाँ साहब ने उत्तर दिया—"वाह, वाह! बहुत अच्छा। ज़रा सुन तो लूँ लड़के को।" सज्जन ने झट तानपुरा उठाया और गाने के लिये लड़के को आदेश दिया। लड़के ने अपने चढ़े हुए राग में एक ही गीत बड़ी तैयारी से गाकर दिखाया। गाना जब तक चल रहा था, खाँ साहब निस्तब्ध होकर सुन रहे थे। आध-पौन घंटे में समाप्ति के बाद उक्त सज्जन ने बड़ी आशाभरी दृष्टि से खाँ साहब की ओर देखा! खाँ साहब ने उत्तर दिया "अरे साहब, कब से मैं ताक रहा था कि कुछ नज़र आवें तो झट से मिर्च-मसाला छोड़ दूँ। किन्तु हाँडी में तो कुछ भी नहीं है। मसाला डालूँ तो किसमें डालूँ।"

शैशवावस्था से ही बुरे संस्कार लगे बालकों को शिक्षा देना कितना कठिन हो जाता है—इस संबंध में बोलते हुए एक छोटा-सा संवाद उन्होंने सुनाया था। मांसाहार की आदत लगे हुए पाँच-वर्ष के बालक को पंडित जी ने कहा, "सुना बेटे! वह मुर्गी अपने चूजों को दाना चुगने के लिए कैसे सिखा रही है? अपने बच्चों से उसे कितना प्यार है। उनमें से एक भी यदि दृष्टि से ओझल हो जाय तो वह कितनी व्याकुल होती होगी? एक भी चूजा यदि हम मारके खा जायँ तो वह कितना क्रूर कार्य होगा? बिचारी उस माँ की क्या दशा हो जायगी, इसका तुम्हीं विचार करो।" लड़के ने तुरन्त उत्तर दिया—"ठीक है, तो अपन उस माँ को ही खा डालें।"

मेरे बंधु की शरीर यष्टि बाल्यकाल से ही दुर्बल तथा नाजुक थी। जिसे देखकर पंडित जी को बहुत चिंता लगी रहती। स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने के लिए वे सदैव कहते रहते। भाई साहब की मामूली-सी बीमारी पर वे चिंतित हो जाते। पिता जी की पंडित जी पर असीम श्रद्धा थी, अतः पंडित जी भी भाई साहब पर पुत्रवत् स्नेह करते। सन् १९२२ की दीपावली के अवसर पर केवल चार दिन के लिए हम सभी भाई-बहिन अपने ननिहाल गये हुए थे। भाई साहब को अचानक विषयमज्वर हुआ और मामा के यहाँ चार दिनों का हमारा वास्तव्य लगभग एक मास तक बढ़ाना पड़ा। मामा का पंडित जी से थोड़ा-बहुत परिचय था। शाम को दफ्तर से लौटते समय चौपाटी पर कभी-कभी पंडित जी से भेंट हो जाती थी। भाई साहब की बीमारी में ऐसे एक दिन उनकी भेंट हुई। पंडित जी ने अत्यंत गंभीर आवाज में कहा, "मामा साहब, आप पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है। औषधोपचार-पथ्य आदि के विषय में उदासीन न रहिये। भानजे की बीमारी में किंचित् भी लापरवाही न कीजिये।" मामा साहब इस विषय में तत्पर तो थे ही, परन्तु पंडित जी की सूचना का मर्म समझकर उन्होंने उपचारादि की पराकाष्ठा कर दी और अपनी जिम्मेदारी यशस्वी रीति से निभाई। इसी वर्ष मार्च में हम लोग बड़ौदे में थे। भाई साहब को माता का प्रकोप हुआ। आत्मीयता से भरे हुए पत्र बार-बार भेज कर वे चिंता व्यक्त करते और समाचार भी पूछते रहते। सन् १९३२ में गर्मी की छुट्टियों में भाई साहब बम्बई आये हुए थे। एक दिन पंडित जी को कुछ पढ़कर सुनाने का प्रसंग आया। पढ़ने में उन्हें कष्ट हो रहा है—ऐसा जान कर पंडित जी ने कहा, "क्यों रे! तुझे पढ़ने में तकलीफ हो रही है क्या? चलो, अभी मेरे साथ चलो, आँखों की जाँच करा लो। आवश्यकता पड़ने पर चश्मे का उपयोग भी करो। मनुष्य की इन्द्रियों में आँखें बहुत महत्वपूर्ण और नाजुक होती हैं।

उन पर ध्यान न देना एकदम ठीक नहीं।" उसी समय से भाई साहब चश्मे का उपयोग करने लगे।

आधुनिक वैद्यक शास्त्र में नए-नए शोध, नई-नई बीमारियाँ, उनकी चिकित्सा और निदान करने के विभिन्न साधनों के विषय में उनके पारिभाषिक शब्द पुराने लोगों को कैसे दुर्बोध हो जाते हैं और सुशिक्षित आदमी भी कैसे भौचक्के हो जाते हैं, इसका एक विनोदपूर्ण उदाहरण, जो स्वयं उनके विषय में ही था, उन्होंने बात-बात में ही कहा था। "एक बार अचानक सिर के दर्द के साथ मुझे हल्का-सा चक्कर आया। मैं तुरन्त डाक्टर के के पास पहुंच गया। पूरी जाँच कर लेने के बाद उन्होंने मुझे कहा, "कोई चिंता का विषय नहीं है। आपका ब्लड प्रेशर कुछ अधिक हो गया है।" इधर मुझे बहुत आनन्द हुआ। कुछ ताजगी भी महसूस करने लगा। ब्लड प्रेशर की बीमारी और उसका यह शब्द-प्रयोग, सारा ही मेरे लिये नयी बातें थीं। डाक्टर कह चुके थे, डरने का कोई कारण नहीं केवल ब्लड प्रेशर बढ़ा है। मैं समझ बैठा मेरे शरीर में रक्ताभिसरण बहुत अच्छा हो रहा है। अतः संतोष की सांस ली कि एक बहुत बड़ी चिंता से मुक्ति मिल गई।" उसी उत्साह में मेरे भाई साहब को नूतन गीत रचना करने की सूचना दी और उनसे कुछ गीत भी तैयार करा लिये। गीत उन्हें बहुत पसन्द आये। यही क्रम जारी रखने के लिये भाई साहब को प्रोत्साहन भी दिया।

कक्षा में अध्यापन करने की उनकी रीति सन् १९२३-२४ में मैंने देखी। तब शारदा संगीत मंडल में वे सिखाते थे। फोर्ट, बम्बई में नानाभाई लेन में एक मकान के आखिरी मंजिल पर यह मंडल था। किसी भी विषय को वे इतनी सहज और मनोरंजक पद्धति से समझाते थे कि सुननेवाला अनुभव करता, यह बात कितनी सहजसुलभ और साधारण-सी थी। सिखाने की उनकी इसी पद्धति ने कितने पारसी, गुजराती, बनिये, भाटिये व्यापारियों को गायन की शिक्षा प्रारंभ से ही करने के लिये उद्यत किया। अर्थात् बाद में लगन से अभ्यास करते रहने वालों की संख्या एक-दो तक सीमित रह जाती। परन्तु उनके व्याख्यान सुन कर संगीत की सर्वसाधारण कल्पना, वह कैसा सुनना चाहिये, उसमें महत्व की बातें क्या होती हैं और आडंबर की बातें कौनसी—इसकी इन सभी को यर्थाथ कल्पना हो जाती। धनिक एवं वयस्क लोगों में संगीत के प्रति अनुराग वे इसी पद्धति से निर्माण कराते थे।

'खास' तालीम देने की उनकी रीति भी अपूर्व थी। जो श्री सुकथनकर जी के बंगले में एक तरफ बैठ कर मैंने कई बार सुनी थी। वैसे तो कई गुरु-शिष्यों की यह (खास तालीम) किसी संकेत स्थल पर चुपके-चुपके से दी हुई मैंने सुनी है। परन्तु उनमें से किसी भी तालीम में पंडित जी की तालीम जैसा निखार नहीं था। जो पाठ हो चुके हैं, उन्हीं को रट-वाते रहना, स्थायी अन्तरे में इधर-उधर दुरुस्तियाँ करना, बोलाक्षरों का वजन ठीक करा देना, अपने साथ गाने के लिये कहकर जवाबदारियों से मुक्त हो जाना अथवा अपनी रियाज के समय पर शिष्य को बैठे रहने की अनुमति दे देना—इत्यादि बातों में ही सर्व साधारण शिक्षकों की यह खास तालीम जहाँ अटकी हुई रहती है, वहाँ पंडित जी द्वारा अपने शिष्यद्वय श्री बाड़ीलाल-रातांजनकर को दी हुई तालीम कितनी भिन्न थी। छोटे से छोटी बात का वे सांगोपांग विवेचन करते, ठेठ मूल में जाकर उसके इतिहास का अपने

अनुभवों पर विस्तार-पूर्वक विश्लेषण करते। गाते समय वे क्या-क्या कृत्य करते जा रहे हैं, इसका स्पष्टी-करण करते। गीत सिखाते समय बंदिश के अनुसार राग-विस्तार कैसा किया जाना चाहिए, उसी राग में विभिन्न बंदिशों की सहायता से बढ़त करते रहने पर राग-स्वरूप बिगड़ने का भय नहीं रहता है। उनके ऐसे प्रयोगों के प्रात्याक्षिक स्वयं उनके कंठ से ही मैंने अनेक बार सुने हैं। गीत सम्पूर्ण गाने के विषय में उनका विशेष आग्रह था। स्वरों के उच्चारण पर वे बहुत ध्यान देते। गायकी का क्रम, तानों का मर्यादित प्रमाण, उनका सुरीलापन, दानेदारपन की ओर बहुत ध्यानरखते। तानों की तोड़-मरोड़ न करते हुए लय के अनुसार किसी सुन्दर डिजाइन सहित सरलता से सम पर आना, विस्तार के समय ताल-विभाग के अनुसार पदच्छेद करना, विश्रांति-स्थानों का महत्व, विवादी-स्वर की मर्यादा तिरोभाव का उपयोग, गायन की ठसक सुरक्षित रखते हुए उसमें कढ़ी-भात की गन्ध न आने देना, गीत का अर्थ समझकर छोटी-बड़ी आवाज के साथ उसका शृंगार करना, तिहाईयों की बौछार न करते हुए बोल-तानें कहाँ और कैसी लेना, उन्हें कैसे शेष करना, सम पर कैसे आना, सम की राह में अटके न पड़े रहना, गानेवाला ताल के आधीन नहीं, किंतु ताल उसके आधीन है—इस आत्मविश्वास से बढ़त करना, सरगम का अतिरेक न करते हुए लय और ताल से क्रीड़ा करना, आसपास के रागों का जानबूझ कर आभास दिखाते हुए पुनः-पुन मूल राग पर वापस आना इत्यादि बातें तालीम के समय वे स्वयं गाकर समझाते थे। तब मैं अवाक रह जाता था। मुझे शंका है कि ऐसी तालीम कहीं पर कोई देता होगा। उनकी ऐसी भी मान्यता थी कि तालीम के अतिरिक्त कलाकार में अपनी स्वयं की प्रतिभा होनी चाहिए और वही उसे समाज में आदर का स्थान दिलाती है। ऐसे सुसंप्रदायी एवं प्रतिभावान कलाकार कला में जब वैचित्र्यय दाखिल करते हैं तब कला को अपना लक्षण भी बदलना पड़ता है। संगीत में परिवर्तन जन्मसिद्ध कलाकार ही ला सकते हैं। सामान्य गायक यदि उपरोक्त बातों की ओर ध्यान देता रहे तो अपना गायन मधुर और चित्तवेधक बना सकता है।

उनका वह गायन सुनकर मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि "पंडित जी गाते नहीं थे, केवल शास्त्रकार थे" ऐसी आलोचना करने वाले बहुत बड़ी भूल करते हैं। वे यदि उनके गायन को न सुन सके, अथवा उनके गाने की ध्वनि-मुद्रिकाएँ आज प्राप्त नहीं हैं, तो क्या वे गा ही नहीं पाते थे, ऐसा कहना क्या तर्कशुद्ध है? रात्रि में यदि सूर्य-दर्शन न होता हो तो क्या सूर्य का अस्तित्व ही नहीं माना जाता? जिसने संगीत-शास्त्र का सम्पूर्ण अभ्यास किया, पुराने ग्रंथों को ढूंढ़कर निकाला, उनका अभ्यास किया, समूचे देश में भ्रमण कर समस्त विद्वानों से चर्चा की, अनेक किस्म के गायक-वादकों को सुना, योग्यता-प्राप्त कलाकारों से संगीत का प्रात्याक्षिक अभ्यास किया, उनके गीतों की ध्वनि-मुद्रिकाएँ उस ज़माने में लीं, अपने समय में कला का स्वरूप जैसा था उसी प्रकार उसका शास्त्र बनाया, हजारों गीत प्रकाशित किये, उनके लिए सरल एवं सुबोध स्वर-लेखन-पद्धति तैयार की। विभिन्न स्थानों की गायन-पद्धति में एकवाक्यता लाने के लिये सम्मेलन बुलवाए, इस विद्या के लिए इतना विस्तृत कार्य किया कि जो अन्य किसी व्यक्ति को अनेक जन्मों में संभव न हो पाता। उनके सम्बन्ध में उनके साहित्य-सृजन और परिश्रम पर विचार न करते हुए कुछ भी कह देना कि उन्हें गाना नहीं आता था, अपने आपको अंधा सांबित करना है। मानता हूँ कि उन्होंने

जल्से गरजाये नहीं, रात-रात भर की महफिलों में तहलका नहीं मचाया, ग्रामोफोन की चूड़ियाँ नहीं भरीं और न ही कहीं कथा और कीर्तन किये। उन्हें इन बातों की क्या आवश्यकता थी ? क्या द्रव्य संचय करना था ? किसी की खुशामद करनी थी, कीर्ति अथवा प्रसिद्धि अर्जन करनी थी ? संगीत की निरपेक्ष सेवा ही उनका एकमेव ध्येय था। पुराने संगीत के अनुसार प्रचलित प्रणाली को, कला को ग्रन्थबद्ध करने की अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए इन सब भड़कीली बातों को तिलांजलि दी। संगीत का पेशा अथवा व्यापार करना उन्होंने कदापि स्वीकार नहीं किया।

प्रसिद्धि, प्रचार, विज्ञापन, परचे-बाज़ी इन सब आडम्बरों से उनका तीव्र विरोध था। भाईसाहब को वे सदैव जताते, "बाबू ! अखबारबाजी के लालच से तुम सदैव अलिप्त रहो, एक बार उसमें फंस जाने पर प्रगति तो छोड़ोगे ही, स्वत्व भी खो बैठोगे। प्रसिद्धि के साथ-साथ उसके अन्य दूत भी पीछे लग जाते हैं। ऐसे लोगों की दृष्टि बाजारू होने से वे स्वयं अपना ही लाभ देखते रहते हैं। प्रसिद्धि पाते ही अहंकार का प्रादुर्भाव होता है। और स्वयं के अतिरिक्त सर्व-जगत् तुच्छ लगने लगता है। स्वयं अपने को छोड़कर किसी बात पर विचार नहीं कर सकता। अर्थात् यहीं पर आत्मोन्नति शेष हो जाती है। प्रसिद्धि पाते ही उसको टिकाने की आवश्यकता पड़ने लगती है। और फिर अपने भक्त-गण जो कि उसका प्रचार करते रहते हैं, उन्हें सन्तुष्ट रखना आवश्यक हो जाता है। सामान्य-श्रोताओं की चाह के अनुसार गाना पड़ता है। अर्थात् अपनी तालीम, अपनी कला को एक ओर रखकर लोग जैसा माँगेंगे, वैसी महफिलें रँगानी पड़ती हैं। प्रसिद्धि के नये-नये तन्त्र सम्हालते रहने में कहाँ का स्वातन्त्र्य और कहाँ का स्वत्व ? ऐसे दाम्भिक, मतलबी भक्तों के ताल पर स्वयं भगवान् को भी नाचना पड़ता है। यह सब टालना हो तो "स्तुति" जो कि प्रायः खुशामद ही होती है, के वशीभूत न होना चाहिए। वस्तुतः स्तुति सुनकर आनन्द तो होगा ही, परन्तु अपने यश का श्रेय स्वयं की ओर न लेते हुए भगवान् अथवा गुरु की कृपा समझकर उनका ऋणी होना चाहिए। स्तुति के भुलावे में न आना है तो अत्यन्त कठिन; परन्तु यह साध्य हुआ तो जीवन तथा कष्ट-साध्य-विद्या सार्थक होती है। नहीं तो प्रवाह में बहने वाले अपन भी एक ! मैंने किया, मैंने गाया, मैंने लिखा, इस प्रकार के सभी मैं...मैं...मैं...को भूल जाना चाहिये। उसके प्रति ममत्व स्वयं उस 'मैं' का ही सर्वनाश करता है।" इस प्रकार के उनके बोध-प्रद विचार लखनऊ में कुछ दिनों के लिए मैं भाईसाहब के पास था, उस समय रात्रि में भोजन के पश्चात्, मैंने प्रायः सुने हैं।

---

गीतबेलि मुरझाई जात रही, भरतखण्ड,
श्रम को बिन नीर दियो, चतरा की रति अखण्ड ॥ स्थायी ॥
पनप रही प्रतिदिन, फूलेगी एक बार,
विकसेंगे पुष्प बहु, दृढ़ आशा है गोविंद ॥अंतरा १॥
चरन कमल बिनती, कर जोर करें निसदिन ही,
किरपा की वृष्टि करो, हम हैं सब बालवृन्द ॥अंतरा २॥

(काफी, एक ताल में निबद्ध) —आचार्य गो० ना० नातू

---

प्रसिद्धि के साथ-साथ धन-दौलत, बड़प्पन, कीर्ति इनके विषय में भी वे घृणा करते। "कीर्ति, यश अपने आप चरण छूने लगते हैं। उसके लिए खटाटोप क्यों ? और न भी आई तो कहाँ क्या बिगड़ा ? अपनी बुद्धि के अनुसार जो अच्छा लगता हो, उसे निष्कपट-वृत्ति से कर देना चाहिए। ग्राह्य हुआ तो लोग उसे स्वीकारेंगे ही, अन्यथा छोड़ देंगे। अच्छा न लगने पर भी लोगों को उसे स्वीकार करना चाहिए, ऐसा दुराग्रह क्यों ? उन्होंने उसे टाल भी दिया तो भी विषाद क्यों ?

अंगीकृत-कार्य पूर्ण होते ही कृष्णार्पण कर देना चाहिये। स्वीकार हुआ अथवा अस्वीकार हुआ, स्तुति हुई अथवा निंदा हुई, आलोचना हुई; अथवा समालोचना हुई; इसकी चिन्ता क्यों करना ?कर्तव्य कर देने पर उसका फल भी 'मैं ही चखूंगा' ऐसा हठ क्यों ? कर्म-फल पर आसक्ति नहीं होनी चाहिये। अपनी कृति का फल अच्छा हुआ अथवा बुरा, तुरन्त हुआ अथवा विलम्ब से—यह सारी पंचायत क्यों करनी चाहिए ?" उनके ये सारे विचार सुनकर गीता के वचनों का पुनः-पुनः स्मरण होता रहता। जो कुछ उन्होंने क्रिया-सिद्ध किया वह केवल उन्हीं को संभव था। श्रीमल्लक्ष्यसङ्गीत लिखा तो वह चतुर-पंडित के नाम से, हिन्दुस्तानी-सङ्गीत-पद्धति लिखी तो विष्णुशर्मा नाम से, क्रमिक-पुस्तकें लिखीं तो वह पं० दत्तात्रेय केशव जोशी के नाम से। उनके इन विचारों के पीछे छिपी हुई निस्वार्थता, अहंकार शून्यता आदि गुणों का विपर्यास करते हुए कुछ मत्सरी, अहंमन्य एवं कुत्सित पंडितों का उनपर ढोंगबाजी का, छल-कपट का आरोप उनके पश्चात् इतने दिनों बाद करना स्वयं अपने को ही सनेत्र होते हुए भी अंधा साबित करता है। ये आरोप सूर्य पर थूकने जैसे गलिच्छ, दुष्ट और उद्दाम हैं। वे स्वयं बुद्धिमान्, विद्वान् वकील थे। क्या उन्हें यह मालूम नहीं था कि इतने परिश्रम के बाद एकदम नूतन, अपूर्व और तर्कशुद्ध लिखे हुए उनके ये अमौलिक-ग्रंथ सच्चे विद्वानों को मान्य होंगे ही? उसके लिये डरते हुए परदे के भीतर से सब कुछ देखते रहने की उन्हें क्या आवश्यकता थी ? मुख-पृष्ठों पर अपना नाम अंकित न करने के पीछे कीर्ति-त्याग के अतिरिक्त और भी दो-एक कारण थे। एक कारण था—परंपरा। पंडितजी इष्ट-संप्रदाय के पक्षपाती थे। अपने यहाँ प्राचीन समय से विभिन्न-शास्त्रों पर एक विशिष्ट पद्धति से ग्रंथ लिखे जाते हैं। ग्रन्थ-कर्ता का नाम, ठिकाना, समय, इत्यादि व्यक्तिगत बातें अनुमान द्वारा अथवा भीतरी प्रमाणों द्वारा निश्चित करनी पड़ती हैं। इनका उल्लेख कहीं पाया भी गया तो स्पष्ट शब्दों में न करते हुए कूट-श्लोकों द्वारा किया जाता था। चाबी मिलने पर ही ताला खोलना सम्भव होता है। कृष्णार्पण, धार्मिक मनोवृत्ति, इत्यादि बातें ही इन सब का प्रमुख कारण थीं। जो असली स्वर्ण है वह चमके बिना कैसे रहेगा ! वाचक उस पर टूट पड़ेंगे ही। नक़ली हुआ तो कालप्रवाह में लुप्त हो जावेगा। और यही परम्परा पंडित जी ने उठाई।

संगीत-विषयक सभी संस्कृत साहित्य उन्होंने देखा था। अन्य भाषाओं में अंग्रेजी, उर्दू, तेलुगु, तामिल, गुजराती की हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त कर उनके सस्ते संस्करण प्रकाशित किये थे। प्रचलित व ग्रन्थगत संगीत में पर्याप्त अन्तर पाया था। फिर भी विभिन्न स्थानों में आज गाये जानेवाले उत्तर-हिन्दुस्तानी-संगीत में कई स्थानों पर उन्हें समानता भी प्रतीत हुई। गत कई शताब्दियों में संगीत पर कोई अच्छा ग्रंथ लिखा नहीं गया था। अतः

प्रारम्भ में उन्होंने खूब अध्ययन करके अपनी एक निश्चित धारणा बना ली और तब प्रचलित-संगीत की विस्तृत जानकारी देनेवाला ग्रन्थ लिखना प्रारम्भ किया। उन्होंने अनुभव किया कि किसी भी विशिष्ट कला अथवा शास्त्र पर लिखी पुस्तकों के विषय में अनेक समय तज्ञ-पाठक भी ग्रन्थकर्ता का नाम सुनते ही कुछ धारणाएँ बना लेते हैं। इस प्रकार का पूर्वाग्रह वाचकों में हो जाने पर तटस्थ-वृत्ति से उसका परिशीलन करना असम्भव हो जाता है। अधिक चिकित्सा न करते हुए या तो वे अवहेलना करते हैं अथवा प्रतिपादित विषय बिना सोचे-समझे मान लेते हैं। फलतः विद्या का हित पूर्ण रूप से नहीं हो पाता। ग्रंथ में प्रतिपादित-विद्या, उसके मूल तत्त्व, शास्त्र और उसका मर्म—यही बातें प्रमुख होती हैं। ग्रंथकर्ता एक गौण विषय हुआ। इसकी पूछताछ जो भी करते हैं वे केवल ऐतिहासिक-दृष्टि से करते रहते हैं। अतः चतुर पंडित, विष्णु शर्मा आदि उपनाम धारण करते हुए ग्रंथ लिखने में उन्होंने कौन-सा महापाप किया ? सज्जनों के साथ छल-कपट-निंदा त्रिकालाबाधित प्रथा है। फिर पंडित जी ही उसके लिए अपवाद कैसे हो जाते ? दुःख में सुख इतना ही है कि उनके जीवित रहते हुए तो किसी ने ऐसे गलिच्छ आरोप करने का दुस्साहस नहीं किया। निरुपयोगी तथा अनिश्चित विषयों की वे कभी चर्चा नहीं करते थे। 'श्रुति', उनके आन्दोलन, अपूर्णांक, कंपन-संख्या सर्वसाधारण कानों को आकलन न होनेवाले श्रुति-स्वर-स्थान, राग और रस, स्वर और रस, रागों के देवता, रंग, काव्य और संगीत, पशु-पक्षियों की आवाज के साथ स्वरों का रिश्ता, शरीरस्थ-नाड़ी-चक्र और उनके स्वरोत्पत्ति से सम्बन्धित विषयों पर अपना समय उन्होंने बर्बाद नहीं होने दिया। मनोरंजन के लिए दंत-कथाओं पर मार्मिक-चर्चा यदा-कदा की है, परन्तु उनका रहस्य जानने की स्वयं न कभी चेष्टा की और न ही अपने शिष्यों को इसकी सलाह दी।

पंडित जी की दिनचर्या निश्चित थी। केवल प्रवास में ही उसमें यत्र-तत्र परिवर्तन हो जाता था। सूर्योदय के पूर्व वे उठ जाते थे। शौच, मुख-मार्जन हो जाने पर केवल चाय लेते थे। उनका एक प्यारा-सा कुत्ता था, जिसे वे 'काली' नाम से पुकारते थे। चाय की केतली आते ही 'काली' कमरे में झाँकने लगता 'काली चलो आओ' इतना कहते ही जिस कुर्सी पर पंडित जी बैठे रहते उस पर अपने दोनों पैर जमा कर पीछे के दो पैरों पर खड़ा रहता। जब तक पंडित जी उसके कान न उमेठते तब तक 'काली, का समाधान न होता। कान उमेठना, फिर काली का चिल्लाना इत्यादि कसरत हो जाने पर इनामस्वरूप एक तश्तरी चाय उसे मिलती और तभी वह कमरा छोड़कर बाहर जाने के लिए राजी होता। अंतिम तीन वर्षों में जब पंडित जी अर्धांग-वायु से पीड़ित थे, उनका वह कुत्ता पलंग के नीचे सदैव बैठा रहता। पंडित जी का निधन हो जाने पर अन्न-जल ग्रहण न करते हुए मात्र तीन दिनों पश्चात् 'काली' ने भी शरीर त्याग दिया। चाय के उपरान्त स्नान और भोजन के बीचवाला समय छोड़कर अपराह्न चार बजे तक लेखन और वाचन चलता रहता। इसी बीच डाक में आये पत्रों का तुरन्त उत्तर भी लिखने बैठ जाते। यदि कोई भेंट करने आया तो उसे तुरन्त बुला लेते। संध्या समय पुनः चाय लेकर अपनी वह सुपरिचित पोशाक पहिनकर टहलने चले जाते। आठ, सवा-आठ बजे तक चौपाटी पर बैठे रहना, भेंट-चर्चाएँ करना उनका नित्य का क्रम हो गया था। रात्रि भोजनोपरांत काशी-विश्वेश्वर का नाम-

स्मरण करते हुए लगभग दस बजे सो जाते थे। अपने स्वास्थ्य की ओर वे बहुत अधिक ध्यान रखते थे और इसीलिये उनका आहार सादा, सात्विक और मर्यादित था। आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक सेवन करने से वे बहुत डरते और सोचने लगते कि यदि अपचन हो गया तो स्वयं अपने को, दूसरों को कष्ट हो जावेगा। बार्धक्यावस्था में तो अपने खाने-पीने पर बहुत नियंत्रण रखते थे। मृत्यु के प्रति उन्हें सदैव भय रहता। क्योंकि वे ऐसा सोचते—यदि बीच में ही मर जाऊँ तो स्वीकृत-कार्य अपूर्ण रह जायगा। कभी-कभी विनोद करते समय भाईसाहब से कहते "बाबू ! मरण सचमुच बहुत बुरा है। बड़े-बड़े कार्यों की योजनाएँ बना रखना, फिर उस पर अमल करने की शुरुआत कर देना और अचानक यमराज का बुलावा आते ही सारे अध्याय की इतिश्री हो जाना, खेल आधा छोड़कर ऐसे भाग जाना कि फिर लौटने का नाम नहीं।" स्वीकृत-कार्य पूर्ण करने की उन्हें कितनी तीव्र लालसा थी ! एक क्षण भी वे न गँवाते। संसार अथवा अन्य कोई मायापाश उन्हें नहीं था। उनके लिए जो कुछ था वह केवल 'सङ्गीत'। अपने अपूर्ण कार्यों की उन्होंने एक लम्बी-सी सूची ही बना डाली थी, जो हिन्दुस्तानी सङ्गीत पद्धति के चतुर्थ भाग में प्रकाशित भी करवाई है।

मुझे एक भी प्रसङ्ग ऐसा याद नहीं कि जब पंडित जी नाराज हुए हों। प्रसन्न मुद्रा, हँस-मुख चेहरा, आनंदीवृत्ति रहते हुए जहाँ भी जाते, सुखद-वातावरण बना डालते। उद्वेगजनक अथवा निराशपूर्ण कोई बात हो जाने पर निर्विकार-मुद्रा से प्राप्त परिस्थिति को स्वीकार कर लेते। "खैर, ऐसा हो गया, अं ! हरि इच्छा ?" इतने शब्द कहकर दूसरे काम में लग जाते। कीमती वस्तु खो जाने पर अथवा चोरी चली जाने पर उस वार्ता को भी स्वीकार केवल इन्हीं शब्दों से करते "क्या खो गई ? जाने दो, मैंने भी किसी का कुछ हड़प लिया होगा, ऋणानुबंध था तब तक अपने पास रही, छोड़ो उसकी बात।" अपने भृत्य-वर्ग पर भी उन्होंने कभी दोषारोपण नहीं किया और न ही अपशब्दोच्चारण। एक बार बम्बई से बड़ौदा जाते समय चलती गाड़ी में वे बाहर झाँककर देख रहे थे। अचानक उनकी पगड़ी फिसल कर गिर गई। फिर क्या था ? पंडित जी हँसकर कहने लगे, "अरे देखा ! बुढ़ापे में भी बच्चों जैसा कार्य करने की मुझे सजा मिल गई।" तुरन्त ट्रंक खोलकर टोपी पहिन ली। और बड़ौदे में पहुंचते ही सबसे प्रथम, पगड़ीवाले की दुकान पर गये। पुनः दूसरी पगड़ी खरीदी गई और तब कहीं गेस्ट-हाउस में पहुँचे। समय निर्धारित कर लेने पर भी यदि कोई उपस्थित नहीं होता, और उसके फलस्वरूप जो परेशानी उन्हें उठानी पड़ती, उसका उल्लेख भी कभी न करते और न ही अपना सन्तुलन खोते। यह धीर-गंभीर-शांत व उल्लसित-वृत्ति अपनी अन्तिम बीमारी में भी उन्होंने कायम रखी थी। समाचार के लिए आये हुए मित्रों को स्वयं वे ही सान्त्वना देने लगते। "शरीर-भोग भुगतने ही चाहिये। काशी विश्वेश्वर की ही ऐसी इच्छा प्रतीत होती है। सारे कार्य मैं ही पूर्ण करूँगा—ऐसा दुराग्रह, अहंकार क्यों रहना चाहिये ?" कितनी प्रगल्भ एवं उच्च-मनोवृत्ति! जिन्हें 'संत' शब्द से विभूषित करते हैं वे और कैसे होते हैं ? उनका एक और स्वभाव-वैशिष्ट्य ऐसा था कि प्रवास में वे किसी के यहाँ ठहरते नहीं थे। प्रायः गेस्ट-हाऊस, डाक-बँगला अथवा किसी होटल का प्रश्रय लेते। उद्देश्य यही रहता था कि अपने लिये दूसरों को कष्ट न हो अथवा प्रसंग-विशेष पर अपना निष्पक्ष निर्णय प्रगट करने में कुछ बाधा उत्पन्न

न हो। किसी से एक प्याली चाय लेकर भी वे किसी का अहसान स्वीकार नहीं करते थे। यात्रा-प्रवास में जितने भी मित्र उनके साथ रहते, उनका सारा व्यय वे स्वयं उठाते।

स्वभाव से जितने आनंदित उतने ही वे दृढ़ निश्चयी और निग्रही थे। एकबार कोई निश्चय कर लेने पर वह मानो 'भीष्म-प्रतिज्ञा' ही हो गई। वालकेश्वर के अपने मकान में अपनी माता और कनिष्ट-भ्राता हरिभाऊ के साथ रहते। एकबार उनकी माता ने उनपर कुछ आरोप लगाया। निग्रही पंडित जी ने तत्काल जो गृह-त्याग किया वह सदैव के लिये। अद्वितीय-विभूतियों की यह भी एक विशेषता होती है।

वकालत करते समय एक बार किसी गरीब विधवा की जायदाद के विषय में प्रतिपक्षी की पैरवी उन्हें करनी थी। न्यायशास्त्र के कलमों का, उनमें निहित छिद्रों का गैर-फायदा उठाकर पंडित जी ने वह केस अपने पक्ष में साबित करा लिया। विधवा महिला की वास्तविक बातें वे जानते थे। केस हार जाने पर वह महिला पंडित जी के पास आई, और कहने लगी—"मुझे भिखारी बनाकर अच्छी वकालत की तुमने! हो गया न तुम्हारा समाधान?" इस सम्भाषण का उन पर ऐसा विचित्र प्रभाव हुआ कि वकालत सदैव के लिए उन्होंने त्याग दी। यह संस्मरण लखनऊ में मैंने उनके ही मुँह से सुना था।

प्रसंगानुसार हम लोगों को भी कहते रहते, "बच्चों! पौधों को सदैव पानी सींचते रहना चाहिये। कभी न कभी वे पल्लवित होंगे ही। और देखो! विचारपूर्वक किसी विषय का चुनाव करना चाहिये। किसी के कहने में अपना ध्येय निश्चित करते हुए उसके साथ ईमानदारी बरतनी चाहिये। किसी के कहने में आकर आज क्रिकेट, तो कल फोटोग्राफी और परसों अन्य कोई दूसरा ही विषय, ऐसी मधुकरी-वृत्ति नहीं रखनी चाहिये।" उनके सम्भाषण में जो शब्द बार-बार प्रयुक्त होते रहते थे उनकी सूची यथावत् देता हूँ—"मौज, डौल, नवल, कौतुक, फुरसुत, माकड़ मारलें पाला हगलें, सिर सलामत पगड़ी पचास, गाजरा ची पुंगी, वाजली तर वाजली, नाहीं तर मोडून खाल्ली" इत्यादि।

पंडित जी से जिन अनेक व्यक्तियों का समागम हुआ उनके मन में उनके प्रति जो प्रतिक्रिया होती थी, उसका वर्णन गीता के निम्नलिखित वचनानुसार था।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कांचित्।

## बड़ों की बड़ी बातें

आचार्य विष्णु अण्णाजी
कशालकर, इलाहाबाद

सन् १९३१-३२ में अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण लखनऊ के मैरिस म्यूज़िक कालेज की परीक्षा संचालन की कोई अन्य व्यवस्था करा देने के समय पर पं० भातखण्डे जी ने मेरे विषय में भी सुझाव दिया था, ऐसी बात श्री चिंचोरे जी के मुख से सुन कर मुझे आनन्दमिश्रित आश्चर्य हुआ। सोचते-सोचते मेरे विचार सन् १९०७ की उस

अविस्मरणीय घटना पर जाकर केन्द्रित हुए, जबकि बम्बई में मैंने उनका प्रथम दर्शन किया था। परम पूज्य गुरुवर्य पं० विष्णु दिगम्बर से मेरा सहवास लगभग १॥ वर्ष का हो चुका था। पं० पलुस्कर जी के जल्से बम्बई में आयोजित होने वाले थे। जिसके लिए थिएटर निश्चित करना, टिकिट बिक्री आदि प्रारम्भिक व्यवस्था का भार सौंप कर गुरुजी ने मुझे लाहौर से बम्बई भेज दिया। बम्बई आने पर ज्ञात हुआ कि पं० भातखण्डे जी ने कुछ संगीतानुरागियों की सहायता से ग्रांट रोड पर एक क्लब स्थापित किया था, जिसका नाम सम्भवतः रायल क्लब ऐसा कुछ था। जहाँ वे संध्या समय जाते थे। उन दिनों हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति का प्रथम भाग वे लिख रहे थे, और लक्षण-गीतों की रचना भी कर रहे थे। एक दिन शाम को जब मैं क्लब में पहुंचा तो भातखण्डे जी के पास मुरादाबाद वाले उस्ताद नज़ीर खाँ साहब बैठे हुए थे। वे कुछ गीत सुनाते जाते और उन पर भातखण्डे जी लक्षण-गीतों की जुगल-बन्दियाँ बाँधते जाते। अभिवादन-नमस्कार हो जाने पर मैंने अपने आने का उद्देश्य उन्हें सुनाया। मेरे कार्य में यथासम्भव सभी सहाय्य देते हुए क्लब के अन्य सदस्यों को भी टिकिट लेने के लिए आग्रह करूंगा—ऐसा मुझे आश्वासन दिया। मैं उठने ही वाला था कि इतने में भातखण्डे जी ने मेरी व्यक्तिगत जानकारी पूछते हुए कहा—"क्यों जी, जल्से का इतना बड़ा भार जब पलुस्कर जी ने तुम पर छोड़ा है तो निश्चय ही तुम्हें उनका कोई विशेष प्रिय छात्र होना चाहिये। कुछ गाते-बजाते भी हो?" मेरे हाँ कहने पर कुछ सुनाने के लिये आग्रह किया। मैंने भी तुरन्त साज मिलाकर संध्या समयोचित पूर्वी राग में 'कगवा बोले मोरी अटरिया पर' यह चीज गाकर सुनाई। भातखण्डे जी के मुख पर प्रसन्नता स्पष्टतः प्रकट हुई। मुझसे पूछा—"कितने वर्षों से आप अध्ययन कर रहे हैं?" "यही कोई १॥ वर्ष" ऐसा मेरा उत्तर सुनते ही उन्होंने कहा—"सचमुच यदि १॥ वर्ष में तुमको इतनी तालीम मिली हो तो वास्तव में सराहनीय है। पंडित पलुस्कर जी के विद्यालय में इतने अल्प समय में ऐसा शिक्षण यदि सभी को दिया जाता हो तो उनकी शिक्षा पद्धति बहुत ही अच्छी है। इन्हीं बातों की आज के युग में आवश्यकता है" इत्यादि, इत्यादि। उस दिन की वार्ता यहीं पर शेष हो गई और मैं चला आया।

जल्से की तारीख निश्चित हो चुकी थी और उधर लाहौर से गुरुजी भी बम्बई पहुँच चुके थे। परन्तु जल्से के दिन अचानक विषम-ज्वर ने पछाड़ लिया, फलतः वे जल्से में उपस्थित न हो सके। निश्चित समय पर सभी श्रोतागण थियेटर में उपस्थित हो गये। अन्त में बैरिस्टर भालचन्द्रराव भाटवड़ेकर ने सभी श्रोतागणों को सूचित किया कि "पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का स्वास्थ्य अचानक खराब हो जाने के कारण वे उपस्थित न हो सकेंगे। अतः जो भी सज्जन अपने टिकिट के पैसे वापस लेना चाहते हों तो वे उन्हें ले सकते हैं।" कुछ लोगों ने तो पैसे ले भी लिये। मैं जब भातखण्डे जी के पास पुनः पहुंचा तो, पैसे लेने से उन्होंने एकदम इन्कार कर दिया। मुझे कहा कि—"तुम्हारे गुरुजी जब भी आवेंगे मैं उनका गाना अवश्य सुनूंगा और यह टिकिट भी उस वक्त मेरे काम आवेगा। हमारे क्लब के अन्य सदस्य भी ऐसा ही करेंगे।"

बाद में गुरुजी के आठ-नौ जल्से हुए और सभी जल्सों में भातखण्डे जी अपने सभी मित्रों सहित बराबर उपस्थित रहे।

इस घटना के बाद गुरुजी के प्रभाव में आकर मैंने अपने जीवन का एक निश्चित लक्ष्य बना डाला और फिर ऐसा कोई विशेष प्रसंग नहीं आया जबकि भातखण्डे जी से मेरा अधिक सम्पर्क हुआ हो। उनके कार्यों की सारी बातें मुझे अवश्य ज्ञात होती रहती थीं। सन् १९३१ में भी उन्हें मेरा स्मरण रहा होगा और मेरी शिक्षा को वे इतने सम्मान से देखते होंगे—ऐसा मैंने कभी भी नहीं सोचा था। प्रारम्भ में उल्लिखित श्री चिंचोरे जी की बातें सुनकर ऐसा लगता है कि बड़े आदमी कितने विशाल हृदय के होते हैं। आज के हमारे होनहार, सुशिक्षित, सङ्गीत-प्रेमी छात्र यदि इन छोटी-छोटी बातों पर विचार करते हुए उनसे कुछ लाभ उठा लें तो सङ्गीत के लिये कितना उपकारी होगा। सचमुच सङ्गीत से कूपमण्डूकता सदैव के लिए मिट जानी ही चाहिये।

# स्वरलिपि एक सुविधा है, अपने वैशिष्ट्य का प्रदर्शन नहीं

आचार्य हिरजी भाई आर०
डाक्टर, बड़ोदा

The first great and well organised attempt at unifying the Indian system of notation was made by the late Pandit V. N. Bhatkhande to whom Indian music owes so much. His attempt was devoid of personal pride; there was no motive like that of a successful teacher wanting to impose his own invention upon the pupils of others. There was no feeling of triumph over fellow Ustads.

What moved Pt. Bhatkhande was a sincere wish to serve the cause of Indian music. He patiently studied the different Ragas in their different aspects and found a way of rendering their essence, that was easily understandable even by children. Thus he created a basis on which others could build. It is a mistake to reject the system, because it cannot render all the niceties and subtleties to a perfection. A notation system ever remains a help. Nobody can learn music from books only. It presents a medium for understanding the fundamentals and consequently it is eminently suited for teaching purposes. Those who go on will gradually come to know the finer points and learn them. The system of Pt. Bhatkhande uses the names of the notes in such a way that Melody and Taal are visible at the first glance. Nothing more is required for Schools and College use in India.

# वर्तमान संगीत को अमृत दान दिया

श्री प्रभुलाल गर्ग, हाथरस

अल्प जीवनकाल में स्वर्गीय भातखण्डे जी ने संगीत पर जो कलश भर कर भावी संगीत पीढ़ी के लिए रख दिये, उससे एकमेव यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान संगीत को अमृत दान देने के लक्ष्य से ही उनका जन्म हुआ।

भातखण्डे के जीवन काल में संगीत संजीवनी बूटी की भाँति था। अर्थात् उसे प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी वर्ग को द्रव्य के साथ जीवन का मूल्य भी चुकाना पड़ता और तब कहीं वह एक साधारण गायक कहलाने योग्य बनता था। असाधारण इसलिए नहीं बनाया जाता था कि घरानेदार बरखुर्दारों के पिछड़ने का भय बना रहता। अतः कला अपनों के लिये थी, परायों के लिए नहीं। क्रियात्मक संगीत का यह हाल था और शास्त्रीय पक्ष अचार्यों की बपौती थी, अतः हमारे संगीत का सत्य विभिन्न वाचनालयों में सील बन्द होकर कराह रहा था। शाश्वत सिद्धान्त यवन संस्कृति के वज्र प्रहारों से दबोच कर विकृत कर दिये गये, जिनका न कोई नाम लेवा था, न पानी देवा। राजा-महाराजाओं की छत्र-छाया में कुछ श्रद्धेय संगीत पर लेखनी उठा भी पाये तो वह केवल स्वर्णाक्षरों से युक्त मजबूत जिल्दों में बाँध कर यश के निमित्त। ऐसे स्वार्थी और सामंती युग में भातखण्डे जन्मे! उनकी आत्मा कराह उठी और उसे सशक्त सम्बल मिला—नारदीय शिक्षा, भरत नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर, रागविबोध, संगीत पारिजात आदि ग्रन्थों के अवलोकन से।

आर्य संगीत की अवहेलना अशिक्षित संगीतकारों (उस्तादों) द्वारा बड़े रौबदाब से की जाती थी, क्योंकि उनमें परम्परागत अकड़ और दरबारी ऐंठ थी। भ्रान्त-कल्पनाएँ संगीत वर्ग में उदित होकर उसे गर्त्त की ओर ले जा रही थीं। उधर मतमतान्तरों का झगड़ा '५७ के गदर की भाँति बढ़ गया था। इन सब बातों से भातखण्डे जी उद्विग्न हो उठे और उन्होंने अपनी संगीत यात्रा का शुभ संकल्प संजो लिया। बीकानेर, जोधपुर, इलाहाबाद, बनारस, जूनागढ़, सूरत, बड़ौदा, अहमदाबाद, सिन्ध, कच्छ, भावनगर, लाहौर, मथुरा, लखनऊ, आगरा, दिल्ली, मद्रास, तंजौर, मैसूर, मदुराई, त्रिवेन्द्रम, त्रिचनापल्ली, बँगलौर, कलकत्ता आदि विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया और अपनी डायरी संगीत की आख्यायिकाओं से भर ली। प्राचीन परम्परा के जो गायक-वादक उस समय आपको मिले, उनसे संगीत शास्त्र पर विस्तार से चर्चा की और घर आकर अपनी डायरी में लिपिबद्ध किया। इसी प्रकार सहस्रों प्राचीन गायनों को स्वरबद्ध करने के उद्देश्य से रिकार्ड भरे तथा व्यवस्थित रूप से परिमार्जित कर खुली पुस्तक के प्रांगण में उनको ला खड़ा किया, फलस्वरूप 'क्रमिक पुस्तक मालिका' के ६ भाग प्रकाशित हुए।

गायन उत्तेजक मंडली, बम्बई के सदस्य बन कर भातखण्डे जी को संगीत का शास्त्रीय अखाड़ा मिल गया और उसमें आपने संगीत नेता के रूप में अपने रोचक वृत्तांतों तथा शास्त्र चर्चा को रक्खा। फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ "हिन्दुस्तानी संगति पद्धति" के चार भागों का जन्म हुआ।

अपने संगीत को वैज्ञानिक कसौटी पर रखकर सुव्यवस्थित रूप देने वाले भातखण्डे प्रथम मनीषी थे। इस प्रकार अनेक दुर्लभ संगीत ग्रन्थों का प्रकाशन तथा उनका निचोड़ एकत्रित करके एक सुगम ढाँचा भावी पीढ़ी के लिये वे खड़ा कर गये, जिसका अध्ययन और मनन आज के प्रत्येक संगीतजीवी मानव का कर्तव्य है। ज्ञानसिन्धु में गोता लगा कर चन्द मोती खोज कर लाने वाला कभी यह दावा नहीं करता कि सारे मोती उसने पा लिये हैं। इसलिए भातखण्डे जी ने भी कभी यह गर्व नहीं किया कि उन्होंने संपूर्ण संगीत सार्वजनिक हितार्थ व्यवस्थित करके रख दिया है, अपितु इतने परिश्रम के बावजूद भी उन्होंने कई स्थलों पर स्पष्ट कहा है कि 'साम गायन' तथा 'वैज्ञानिक गायन' आदि कई विषय अभी खोज के हैं।

यथार्थ में जो कुछ भी भातखण्डे जी द्वारा संगीत के लिये हो सकता था, उन्होंने जीवन अर्पण करके अर्पित कर दिया और उसी के सहारे चलकर हम कुछ पाने की आशा भी कर सकते हैं। उनको निन्दा की दृष्टि से देखने वाले महापापी हैं, अतः उनका अनुसरण छोड़कर हमें नवीन अनुसन्धानात्मक कार्यों में दत्त-चित्त हो जाना चाहिये। आज जो भी भातखण्डे का निन्दक संगीत पर कुछ लिखता है, तो उसके ज्ञान का स्रोत इन्हीं पुनीत प्रकाशनों द्वारा फूटता है, यह भी कैसा आश्चर्य है ?

निश्चय ही स्व० भातखण्डे संगीत की क्लिष्टतम पद्धति तथा विभिन्न मतावलम्बियों के पक्ष में नहीं थे। इसी कारण संगीत को उलझन की दृष्टि से देखने वाले सभ्य समाज में प्रचलित करने के उद्देश्य से उन्होंने मंथन करके और अपनी एक सरलतम पद्धति का निर्माण करके, इस प्रगतिमय संगीत वाङ्मय का सृजन किया। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण भी वाल्मीकि रामायण से सरल होने के कारण ही इतनी लोकप्रिय हो पायी। ज्ञान का अन्त नहीं, अतः शाश्वत सत्य की खोज करनी है तो इन्हीं ग्रन्थों का अवलोकन करना होगा और वह भी इस युग में होना दुष्कर है, क्योंकि अभी तो केवल संगीत के प्रति थोड़ी-थोड़ी दिलचस्पी जन समाज में प्रारम्भ हुई है। दिलचस्पी जब अध्ययन का मुख्य अंग बन जायगी, तभी शाश्वत सत्य की खोज को जिज्ञासु दौड़ेंगे और दूसरे युग में जाकर उसका प्रतिष्ठापन संभव हो सकेगा।

—हि० सं० प०, भाग ४, पृष्ठ ३-४ से उद्धृत

## विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वाणी में—

"विश्वविद्यालये संगीत शिक्षा विभाग गड़े तोलबार काजे के सबचेये जोग्य व्यक्ति? आमार मने सन्देह नेइ जे, भातखण्डे सेइ लोक। भारतीय संगीत-विद्या सम्बन्धे ताँर जे दूरदर्शिता ता आर कारो नेइ। ता छाड़ा ताँर उद्भावित शिक्षा-दान प्रणालीर असाधारण नैपुण्य सकलकेइ स्वीकार करते हबे। तिनि गायक नन, तिनि गान-शास्त्रेर महामहोपाध्याय। अन्यत्र तिनि हिन्दुस्तानी गान-शिक्षार जे भित्ति रचना करेछेन, बाँगला देशेओ जदि ताँके सेइ भित्ति रचनार सुजोग देओया जाय तबे विश्वविद्यालय जथार्थ सफलता लाभ करबे। एकाज तिनि छाड़ा आर कारो द्वारा सुसम्पूर्ण हते पारबेना।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

**'प्रवासी', अग्रहायण (बँगला वर्ष) १३३५ में पृष्ठ १८६-१८९ पर प्रकाशित 'विश्वविद्यालये संगीत शिक्षा' लेख का कुछ अंश मूलतः बँगला से नागरी लिपि में उद्धृत।**

# मालवीय और भातखण्डे के उत्साही कार्य का परिणाम

डॉ० सी० पी० रामस्वामी अय्यर

To Pandit Bhatkhande must be ascribed the credit of a great renaissance and renovation. Recognising that the Muslim influence diverted or modified the theory and practice of Northern Indian Music and that, far many centuries, the progress of Musical Science had been arrested, Pandit Bhatkhande attempted to reconcile the old scientific rules with current practice. He devoted his entire life to bring about a harmony and he attempted to systematise Hindustani Music and published and made available many compositions which were unearthed by him and had been forgotten. He was fiercely opposed by Ustads but his extensive study and countrywide tours and his visits to various Musical Libraries yielded fruit and the publication of his great work on Lakshya Sangeet was a musical event of prime importance. He expounded the doctrine of ten basic Thats and endeavoured to demonstrate that every Raga can be classified under these Thats. His several publications have made history and he was the originator of the present-day Music Conferences and to his inspiration we owe many Music Colleges and Institutions. The introduction of Music in the Banaras Hindu University was due to his enthusiastic collaboration with the great Pandit Madan Mohan Malaviya. The All-India Music Conference owes not a little to his stimulus and inspiration although the credit for its inauguration must be shared with the Maharaja of Cossimbazar and Sri Kumar Dinendra Mallick.

—'फण्डामेन्टल्स आफ हिन्दू फेथ एन्ड कल्चर' से उद्धृत

## भातखण्डे जी के सिद्धान्त उर्दू में समझाये

श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट, आगरा

सन् '११ के लगभग नवाब अली साहब स्वर्गीय आचार्य भातखण्डे जी के सम्पर्क में आये। भातखण्डे जी का अद्भुत शास्त्र-ज्ञान तथा उनके रचे हुए लक्षण गीतों की ख्याति राजा-साहब के कानों तक पहले ही पहुंच चुकी थी। लखनऊ में उन दिनों उनके पास नज़ीर खाँ (उपनाम काला नज़ीर) विद्यमान थे, अतः उन्होंने इस प्रसिद्ध गायक को आचार्य भातखण्डे जी के पास शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करने और उनके रचे लक्षण गीतों को सीखने के लिये भेजा। राजा साहब ने इस प्रकार जो कुछ आचार्य भातखण्डे जी से प्राप्त किया, उसे इस पुस्तक में लिखा है। इस पुस्तक में जो सामग्री प्रकाशित हुई है, उसका बहुत कुछ भाग वही है, जो आचार्य भातखण्डे जी की हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तकमालिका के विभिन्न छः भागों में प्रकाशित हो चुका है। इस पुस्तक में कुछ सामग्री स्वतन्त्र भी है। जो कुछ भी हो, परन्तु मारिफुन्नगमात के रूप में आचार्य भातखण्डे जी के बहुत से लक्षण गीत तथा उनके स्थापित सिद्धान्तों को उर्दू जानने वाली जनता ने भी भली-भाँति समझा और उनसे लाभ उठाया। इसकी भूमिका को देखने से पता चलता है कि राजा साहब की उर्दू पर अरबी भाषा का गहरा प्रभाव पड़ा है। राजा साहब कठिन से कठिन और सरल से सरल उर्दू लिखने में कुशल थे। आपने अपनी पुस्तक में आचार्य जी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। यही नहीं, प्रत्युत उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक भातखण्डे जी को ही समर्पित भी की है।

—मारिफुन्नगमात भाग १, पृ० १-२ से उद्धृत

## यही भवन भावी संस्कारों का आधार

श्री सुधामाप्रसाद दुबे, खातेगाँव

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अब हमारे पास न प्राचीन स्वर ही हैं और न रागरूप ही हैं। हमारे रागों के नाम यदि प्राचीन नामों से मिल भी जाते हों, तो पुरातन के नाम पर सिवा नाम सादृश्य के हमारे पास कुछ नहीं है। श्रुति स्थानों के अनिश्चिय एवं स्वर स्थानों

के विकृत रूप से हमारे प्रचलित राग रूप सभी आधुनिक हैं। इस प्रकार से हम एक नवीन प्रणाली के संगीत पर विचार करते समय उन प्राचीन उल्लेखों को इन प्रचलित रूपों के लिये कदापि ठीक नहीं मान सकते हैं। जबकि हमारे स्वर ही नहीं हैं, (श्रुति स्थान के अन्तर के कारण) तब इन स्वरों के उपयोग से जो स्वरूप उत्पन्न होगा, वह किसी भी दृष्टि से हमारे प्राचीन स्वरूप का प्रतिबिंब नहीं कहा जा सकता।

यह रूपान्तर पिछले पाँच सौ वर्षों से होते हुए आज इस दशा में प्राप्त होता है। निरक्षर गायकों के आश्रित भारतीय संगीत, पद्धति और शृंखला-विहीन हो गया था। आश्चर्य यह था कि ये गायक प्राचीन नामों में अपना नवीन रूप सुनाते रहते थे। जिससे एक अध्येता को बड़ी कठिनाई होती थी। इन उस्तादों की उस्तादी का प्रदर्शन स्वनिर्मित स्वरूपों में भी हुआ है। इस प्रकार प्राचीन संगीत का भ्रष्ट उच्छिष्ट इन खाँ साहबों की कृपा-कोर से प्राप्त हुआ और उसी को स्वर्गीय पं० भातखण्डे ने तरती बवार धो-पोंछ और सजा-कर एक थाल में जमा दिया है। यह भग्नावशेष भी हमारे आँसू पोंछने के लिये काफी हैं।

कुछ घरानेदार गायकों और संगीत विवेचकों ने प्रस्तुत पद्धति के लिये अपने इस प्रकार के विचार भी प्रकट किये हैं कि—"इस पद्धति में कम थाटों में अधिकाधिक रागों को रख देने के प्रयत्न में कुछ रागों के साथ अन्याय हुआ है। इसी प्रकार रागों के स्वरूप, वादी-विवादी एवं गायन समय आदि में भी ज्यादती हुई है। स्वरलिपि की अपूर्णता एवं एक-दो बार सुन कर ही स्वरलिपि बना देने के प्रयत्न में घरानेदार बन्दिशों का रूप विकृत हो गया है। पाश्चात्य स्वरों के अनुकरण पर स्वर स्थान निश्चित करने से श्रुत्यंतर के कारण रागों में भी अन्तर आ गया है", इत्यादि। परन्तु ये सब तर्क इस रत्नराशि को नगण्य सिद्ध नहीं कर सकते। यदि ये कमियाँ रह भी गयी हों, तो भी उनका संस्कार इसी भवन के आधार पर किया जाना युक्तिसंगत होगा। लेखक तो अपनी रचना को वर्तमान का एक चित्र मात्र कहता है और भविष्य में आगे बढ़ने वालों के लिए एक सुसंगत मार्ग मात्र ही मानता है।

—हि० सं० प० भाग १, पृ० ४-५-६

## दो विष्णु की चार भुजाओं ने संगीत को बचाया

प्रो० बी० आर० देवधर बी० ए०,
वनस्थली.

जून १९१८ में बम्बई के गान्धर्व महाविद्यालय में मैंने विधिवत् प्रवेश पाया। तदनंतर सन् १९१९-२०-२१ और २२ में गुरुवर्य पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर की प्रेरणा से जो चार संगीत परिषदें आयोजित हुईं, उनमें मैं बराबर उपस्थित रहा। बहुत से विद्वान् लोग इन परिषदों में भाग लेते थे और वहाँ पर संगीत विषयक चर्चाएँ भी

पर्याप्त होती थीं। बम्बई में आते ही पण्डित भातखण्डे का नाम मैंने सर्वप्रथम सुना और वह भी विशेषकर गायक वर्ग के मुख से। ये लोग प्रायः उनका उल्लेख व्यंगात्मक भाव से ही करते थे—"वे कोई गवैय्ये तो हैं नहीं। वकील हुए तो क्या हुआ, उन्हें संगीत में क्या समझना है? ऐसी किताबें लिखकर क्या किसी को गाना-बजाना आ सकता है?" उपरोक्त परिषदों की चर्चाओं में जिन व्यक्तियों ने भाग लिया, वे भी अपने भाषणों में ऐसे ही उद्‌गार प्रकट करते थे। लोगों के ये विचार बार-बार सुनकर पं० भातखण्डे के विषय में मेरा मन भी प्रारम्भ में कलुषित होने लगा था। परंतु साथ ही साथ ऐसे बहुचर्चित व्यक्ति को जानने-समझने की जिज्ञासा भी बढ़ती गई। अंततः अपने ज्येष्ठ गुरुबंधु स्व० श्री नारायण लक्ष्मण खरे से एक दिन मैंने पूछ ही लिया कि—"जिनके विषय में इतना वितंडावाद इन लोगों ने मचा रखा है, वे भातखण्डे आखिर हैं कौन? उनकी लिखी हुई कुछ पुस्तकें हैं क्या?" इस पर श्री खरेजी ने उत्तर दिया—"पण्डित भातखण्डे का कार्य अत्यंत महत्व का है। उनका लिखा हुआ साहित्य अच्छी प्रकार से पढ़े-समझे बिना तुम्हें अपना कुछ भी मत नहीं बनाना चाहिए। उनके कार्य को समझना इन लोगों की बुद्धि के बाहर की बात है। वे सचमुच एक असामान्य व्यक्ति हैं।"

सन् १९२२ के अंतिम दिनों में गांधर्व महाविद्यालय छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से मैं बम्बई में रहने लगा। एक दिन किसी मित्र के यहाँ पण्डित भातखण्डे की लिखी हुई 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' का प्रथम भाग अचानक ही मेरे देखने में आया। सहज भाव से उसके पृष्ठ मैं इधर-उधर उलट रहा था, लेकिन पुस्तक मुझे इतनी अच्छी लगी कि अपने मित्र से तत्काल मैंने उसे माँग लिया। एक-दो दिन में ही मैंने उसे पढ़ डाला। पुस्तक में लिखी हुई राग विषयक चर्चा, शास्त्रीय परिभाषाएँ, मनोरंजक एवं उद्‌बोधक सम्भाषण, संशोधनात्मक उदार दृष्टि, विभिन्न घरानों का सखोल अभ्यास—इन सारी बातों का मेरे मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि पण्डित भातखण्डे के अविलम्ब दर्शन करने की मुझ में तीव्र इच्छा जागृत हुई। पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि पंडित भातखण्डे प्रतिदिन सन्ध्या समय चौपाटी पर टहलने के लिये जाते हैं और वहाँ पर बैठने का उनका एक बेन्च भी प्रायः निश्चित-सा ही रहता है। एक दिन अपने एक मित्र के साथ मैं वहाँ पहुँच गया और एकदम निकट से इस व्यक्ति के दर्शन कर लिये। उनके निवास स्थान की जानकारी प्राप्त कर ली और दूसरे दिन प्रातः बालकेश्वर के उनके बँगले पर उपस्थित हो गया। मुझे देखते ही प्रारम्भ में तो मेरे विषय में कुशल-प्रश्न उन्होंने बड़ी आस्थापूर्वक पूछे। परंतु वार्तालाप करते-करते जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं विष्णु दिगम्बर जी का शिष्य हूँ, वे अचानक रुक गये और मुझ से कहने लगे—"मैं तो कोई गवैय्या नहीं हूँ। गायन की तालीम देना मेरा कोई व्यवसाय भी नहीं है। परंतु अपनी पुस्तकों में मैंने जो कुछ लिख रखा है, उसे आप अवश्य पढ़िये और उसमें से जो कुछ उपयुक्त प्रतीत हो, ग्रहण कीजिये और शेष सारा छोड़ दीजिये।"

पण्डित भातखण्डे से मेरी प्रथम भेंट की परिणति इस प्रकार हुई।

उनकी पुस्तकों का मुझ पर अमिट परिणाम हुआ था, अर्थात् मैं तो उनके पीछे लगा ही रहा। सीधे ढंग से अपना काम न होता हुआ देख कर एक दिन उनके पास

गया और उनसे कहा—'पण्डित जी, कल शाम को मैंने एक गायक से पूरियाधनाश्री सुनी। परन्तु उनका वह राग आप के रागवर्णन से एकदम भिन्न था। वे रागवर्णन आपने किस आधार पर किये हैं ?' मेरा यह प्रश्न सुनते ही तत्काल इच्छित परिणाम हुआ और अपने सिद्धान्तों की पुष्टि में उन्होंने लगभग दो घण्टे तक मुझे सब कुछ समझाया। एक-एक राग का उदाहरण लेकर वे उसका विश्लेषण करते गये, उनका साधर्म्य, भेद किन स्वर संगतियों से, किन उच्चारणों से किया जाना चाहिये आदि बातें बताते गये। पूरियाधनाश्री के संकेत मात्र से उस दिन उन्होंने मुझे पूर्वी थाट के समस्त रागों की ऐसी जानकारी दी कि मुझे तो भारतीय राग रचना को समझने की एक अभूतपूर्व विचार प्रणाली का ही ज्ञान हो गया। बाद में कई अवसरों पर इसी प्रकार से प्रथमतः उन्हें उत्तेजित करते हुए अपनी ज्ञान पिपासा मैंने तृप्त कर ली। जाते समय पंडित जी ने मुझसे कहा—"देखो तुम लोग पढ़े-लिखे हो। राग रचना के सौन्दर्य तत्वों की ओर तुम्हारा ध्यान जाना ही चाहिये।" मैंने हँसते हुए उसने क्षमा प्रार्थना की और कहा—"केवल इसी उद्देश्य पूर्ति के लिये मैं आपसे बारबार भेंट करता रहता हूँ। प्रथम भेंट में तो आपने मुझे कुछ भी कहने से इन्कार कर दिया था, अतः अब इस पद्धति का उपयोग कर रह हूँ।' उत्तर में पंडित भातखण्डे ने कहा—"तुम तो बड़े ही होशियार निकले। ठीक है, ठीक है। इतना तो मैं समझ गया हूँ कि तुम्हें ज्ञानार्जन की तीव्र लालसा है। समय-समय पर आते रहना। मुझे इसमें आनन्द ही होता है।"

प्रचलित रागों की चीजें सीखने का मुझे शौक लगा। ऐसे रागों की बहुत सी चीजें उनके पास हैं, ऐसा मुझे मालूम था। अपनी इच्छा मैंने पंडित जी से व्यक्त की। उन्होंने मुझसे कहा, "देखो यहाँ आकर उन्हें तुम सीख सकते हो। उनके उच्चारणों को न जानते हुए केवल लिख कर याद कर लेने के पक्ष में मैं नहीं हूँ।" समयाभाव से ऐसा करना मेरे लिये कठिन था। अतः इस बार मैंने दूसरा तरीका अपनाया। कालेज के मेरे एक सहपाठी की बुआ पंडित भातखण्डे के प्रिय शिष्य श्री शंकरराव कारनाड़ की सहधर्मचारिणी थीं। इस मित्र के माध्यम से कारनाड़ जी से मैंने परिचय प्राप्त कर लिया और उपरोक्त चीजें वहाँ से मैंने प्राप्त कर लीं। इधर इन चीजों को लेकर समय-समय पर पंडित जी से चर्चा भी करता रहा। वे प्रायः कहते, "चीजों को भली प्रकार याद करना कुशल गायक की बुनियाद है। अच्छे गायक की यह एक पहिचान होती है कि चीज गा देने के बाद उस चीज के अनुरूप उन्हीं नियम-धर्मों का पालन करते हुए गवैय्या गा रहा है अथवा नहीं—इस पर सदैव ध्यान देना चाहिये।"

अच्छे गायकों को सुन कर अपनी साधना में कुशलता, वैचारिक उन्नति का विकास करने के लिये पंडित जी ने मुझे कुछ गायक-वादकों के नामों की सूची दी थी। उसमें अल्ला बन्दे खाँ, फैयाज़ खाँ, उमराव खाँ आदि के नाम प्रमुख थे। इनका गायन ध्यान पूर्वक और बार-बार सुनते रहने के लिये वे मुझसे कहते रहते। चंद्र के स्थान पर चाँद, मंद के लिए माँद-इस प्रकार के शब्दरूप जो प्रायः किये जाते हैं, उनका समर्थन करते हुए वे सदैव कहते—"यह कोई उच्चारण की विकृति नहीं हैं, अपितु रागों के स्वरूप को प्रकट करने

वाले स्वरोच्चारणों के लिये ऐसा ही किया जाना चाहिये।" 'एस्थटिक्स ऑफ म्यूज़िक' पर वे प्रायः ध्यान आकर्षित कराते। कणों का महत्व, उनके उच्चारण की सूक्ष्मतम विधियाँ वे बड़ी कुशलता पूर्वक और श्रद्धा से समझाते जाते। इस प्रकार कई बार उनसे मैं मिला और प्रत्येक बार कुछ न कुछ नवीन विचार प्रेरणा लेकर ही मैं घर लौटा।

उत्तर भारत में सर्वत्र गायी जाने वाली "ओ३म् जय जगदीश हरे" आरती का उदाहरण देकर कहा—'कुकुभ जैसे रागों का आधार इन गीतों में मिलता है।' 'रामा, तूं माझा यजमान' महाराष्ट्र में प्रचलित इस गीत द्वारा धनाश्री को समझाया। संगीत चाहे गायकों का हो अथवा जनसाधारण का—उसमें भारतीयत्व का ही उन्हें आभास होता और अपनी कुशाग्र विश्लेषण शक्ति से सहज ही में उसे बतला देते।

एक बार प्रातःकाल वे अपने घर पर बैठे हुए थे। कुछ प्रसन्न नज़र आ रहे थे। हाथ में एक बंगाली महाशय का आया हुआ पत्र पढ़ रहे थे। मेरे आते ही मुझे वह पत्र पढ़ने को दिया। उसमें उनके कार्य की सराहना करते हुए लेखक ने लिखा था : "भरत, शार्ङ्गदेव और भातखण्डे—यही क्रम हमारे संगीत के इतिहास का रहेगा।" अपने कार्यों के प्रति अन्य लोगों में जो आदर आस्था निर्माण हुई है उस पर वे कहने लगे—"देखा तुमने! मेरे परिश्रमों का बाहर कैसा मूल्यांकन हो रहा है। परन्तु बड़े खेद का विषय है कि महाराष्ट्र में इसके प्रति कोई जिज्ञासा नहीं।" पंडित भातखण्डे जी का विरोध करने वालों की कमी तो थी ही नहीं। सन् १९२८ में श्री क्लेमेन्ट्स महोदय के नेतृत्व में अहमदाबाद में एक कान्फ्रेन्स बुलाई गयी। इस कान्फ्रेन्स में यूरोपीय स्टाफ नोटेशन भारतीय संगीत के लिये अनुकूल है—ऐसा प्रस्ताव पास होनेवाला था। भारतीय संगीत के आधार को आघात पहुँचाने वाले ऐसे बेतुके प्रस्ताव का प्रतिवाद करना पं० भातखण्डे के लिये आवश्यक हो गया। पं० विष्णु दिगम्बर का तब उन्हें स्मरण आया और गुरुवर्य ने श्री क्लेमेन्ट्स की वह इच्छा पूर्ण न होने देने में पंडित भातखण्डे जी को भरपूर सहयोग दिया। पं० विष्णु दिगम्बर से कुछ बातों में उनका मतभेद अवश्य था, परंतु दोनों विभूतियों को एक-दूसरे के कार्यों में अत्यन्त आस्था थी। गु० विष्णु दिगम्बर जी के विषय में वे मुझ से प्रायः कहते रहते—"देखो तुम्हारे गुरुजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। रागदारी गीतों को छोड़ कर भजन, कीर्तन, पूजापाठ करते रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। जप-जाप्य करना, पानी में घंटों तक खड़े होकर ध्यान धारणा करने में उन्हें अपना समय व्यतीत नहीं करना चाहिये था। अस्तु, जैसा भी हो तुम सब जो उनके शिष्य हो, उनकी अच्छी देखभाल करना। संगीत को उन जैसे विद्वानों की आज अत्यन्त आवश्यकता है। उनकी शिक्षा-दीक्षा-क्षमता का संगीत को लाभ मिलना ही चाहिये।" पंडित भातखण्डे के ऐसे उद्गारों के प्रति मेरी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई।

सम्भवतः सन् १९२७ की ही बात है। गांधर्व महाविद्यालय का वार्षिकोत्सव था। जल्से के लिये मैंने स्वयं जाकर उन्हें आमंत्रित किया। विल्सन कालेज के हाल में यह वार्षिकोत्सव होना निश्चित हुआ था। पं० भातखण्डे चुपचाप प्रेक्षकों में आकर बैठ गये। उस दिन हम लोगों ने तो उनके लिये मंच पर ही एक स्थान सुरक्षित कर रखा था। मंच पर चलने के लिए उनसे बहुत आग्रह किया गया, परन्तु वे प्रेक्षकों में ही बैठे रहना

चाहते थे। सभी लोग उनके आस-पास एकत्रित हुए। बैरिस्टर जयकर आदि सभी ने बहुत अनुरोध किया और तब उसे टालना उनके लिये कठिन हो गया।

बड़े सम्मानपूर्वक उन्हें मन्त्र पर लाया गया और गुरुवर्य पं० विष्णु दिगम्बर जी के ही पास एक कुर्सी पर बैठाया गया। यह विलोमनीय दृश्य देखकर उपस्थित संगीतानुरागियों ने अत्यन्त उत्साह से करतल ध्वनि की और मैं अपनी तपस्या की सार्थकता से आनन्द-विभोर हो गया। दोनों विष्णुओं को श्रद्धापूर्वक पुष्पमालाएँ अर्पित की गईं। स्वयं बैरिस्टर जयकर ने दोनों का सत्कार किया। लगभग घण्टे-डेढ़ घण्टे तक संगीत के संरक्षक ये दोनों 'विष्णु' एक साथ बैठे और आपस में वार्तालाप भी करते रहे। उनकी यह बातें किस विषय पर हुईं, यह तो किसी को मालूम न हो सका, परन्तु दोनों ही प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ रहे थे। इस वार्षिकोत्सव के कुछ ही माह बाद गुरुवर्य परलोक सिधार गये और पं० भातखण्डे का स्वास्थ्य भी गिरता चला गया।

सचमुच हमारे भारतीय संगीत को ऐसे ही 'चतुर्भुजधारी विष्णु' के लालन, पालन और संरक्षण की आवश्यकता थी। इति अलम्

सूचना :—उपरोक्त संस्मरण 'स्मृतियों के संचित पराग' की अनुक्रमणिका में समाविष्ट न हो सकने के लिए पाठक क्षमा प्रदान करें।—सम्पादक

# मैंने उन्हें महफिल में गाते हुए सुना है

श्री नरेन्द्रराय शुक्ल, नई दिल्ली

स्वर्गीय भातखण्डे जी के प्रति मेरी स्मृतियाँ बहुत पुरानी हैं। मुझे याद है, उस समय मैं पाँच या छः साल का था तब मैंने उन्हें अपने पिताजी के पास आते हुए देखा था। सब लोग भातखण्डे जी को उस समय रावसाहब कहा करते थे। मेरे पिता जी और राव साहब के बीच परिवार जैसे सम्बन्ध थे। वे दोनों बम्बई के कालेज में एक साथ पढ़े। फिर लॉ-कालेज में भी साथ रहे। यह समय सन् १८८५ के करीब का था। वैसे मेरा परिवार जूनागढ़ से संबंधित था, और उस स्थान ने न केवल मुझे ही, रावसाहब को भी बहुत प्रेरणा दी। पहले से ही जूनागढ़ में अच्छे संगीतज्ञों और संगीत रसिकों का आना-जाना रहा है। उस वक्त मशहूर शादी खाँ, मुराद खाँ के लड़के बहादुर खाँ जूनागढ़ में राजगायक थे। वहाँ एक अमीर सेन ध्रुवपदिये हुआ करते थे। वे बाद में बल्भीपुर (बड़ा) चले गये। बस्ता-राम और त्रिभुवनदास ध्रुवपदियों के संबंध में, जैसा कि मुझे बताया गया, मेरे पिताजी ने कुछ दिन सीखा था। पिताजी का संगीत के प्रति झुकाव मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। मुझे मालूम है, बम्बई में उनका सम्पर्क वल्लभदास और दामूलजी (दामोदर मूलजी) से भी हुआ जो कि गोस्वामी जीवनलाल जी महाराज, १००८, के शिष्य थे। इन्हीं दामूल जी से कदाचित् रावसाहब ने सितार की शिक्षा ली थी। वल्लभदास और दामूलजी दोनों उस समय गायन उत्तेजक समाज के सदस्य थे। रावसाहब भी इस समाज में जाया करते थे। दामूल जी की विशेषता यह थी कि वे वाजपेयी जी के खानदान की सितार बजाते थे। इस समाज में छज्जू खाँ-नज्जू खाँ (नज़ीर खाँ) भिंडी बाजार वाले दोनों ही सारंगी पर नौकर थे। रावसाहब ने इन दोनों को बाद में अपनी सिफारिश से इनायत हुसेन खाँ सहसवानिए का शिष्य बनाया था।

रावसाहब और मेरे पिताजी की मित्रता के कारण मुझे कई बातों की जानकारी समय-समय पर मिलती रही। बम्बई में एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे बाबाभई अचलजी ठोलकिया, प्रिन्सेस स्ट्रीट वाले। ये नामी वैद्य थे। इनके यहाँ प्रायः अच्छे-अच्छे गायक और संगीतज्ञ एकत्रित होते थे। यहाँ की दो स्मरणीय बैठकें बहुत उल्लेखनीय हैं। सन् १९१४-१५ की बात है। इनके यहाँ देवल और क्लेमण्ड के साथ भातखंडे जी की 'श्रुति कायम हो सकती है या नहीं'—इस विषय पर चर्चा हुई। दोनों पक्ष के मध्य निर्णायक डागर भाइयों के बड़े दादा जाकिर उद्दीन खाँ थे। अंतिम चर्चा तो मात्र एक दिन में ही खत्म हो गई, पर उसके बाद

करीब महीने भर तक बाबाभई अचल जी के यहाँ जलसा होता रहा। एक जलसे में लार्ड विलिंगडन जो उस समय बम्बई के गवर्नर थे, भी आये। बम्बई में उस दिन ब्लैक आउट था, क्योंकि मद्रास के समुद्री किनारे पर उस दिन एमडन नामक लड़ाकू जर्मन जहाज ने बम्बार्डमेण्ट किया था। बम्बई में भी सावधानी के लिए अंधेरा रखा गया था। हाँ, तो लार्ड विलिंगडन के आने पर जाकिरउद्दीन खाँ साहब गाने बैठे। उन्होंने भातखंडे जी से पूछा कि 'क्या गाऊं ?' रावसाहब बोले—'ऐसा राग सुनाइये जो सबकी समझ में आ जाये।' खाँ साहब के साथ चार तम्बूरे थे। मगर तीन तानपूरे बजाये जा रहे थे और चौथा जो कि 'मध्यम' में मिला हुआ था, जमीन पर रखा हुआ था। जाकिरउद्दीन खाँ साहब ने केदार का आलाप लिया और बिना मध्यम लगाये दस मिनिट तक गाते रहे। तब रावसाहब बोले—'अब खुला कर दीजिए, खाँ साहब।' तभी खाँ साहब ने ऐसा मध्यम लिया कि जमीन पर रखा हुआ तानपूरा गूंज उठा और जलसे में एक करंट जैसा अनुभव हुआ और सबको पता लग गया कि वह केदारा है। इस जलसे में दस मिनिट के लिए आए हुए लार्ड विलिंगडन तीन घंटे तक रहे।

१९१० की बात है। भातखंडे जी सूरत आये थे। वास्तवमें रावसाहब सर मनुभाई मेहता—जो कि बाद में बड़ौदा रियासत में दीवान रहे,—के किसी संबंधी के यहाँ जनेऊ उत्सव में भाग लेने के लिए आये थे। सूरत से हम सब लोग डूमस गये। यह स्थान सूरत से नौ मील दूर समुद्रतट पर है। लोगों ने इस स्थान पर रावसाहब से गाने के लिए बहुत आग्रह किया। उन्हें सुनने के लिए बहादुर खाँ के लड़के दिलदार बख्श और इदन बाई भी वहाँ पहुंच गये। ये इदनबाई वही थीं, जिनके पास अब्दुल अजीज खाँ पटियाला वाले सारंगिये रहते थे।

मुझे याद है, वैष्णव हवेली वाले रामकिसन महाराज और उच्चकोटि के जागीरदार जनार्दन वीरभद्र पाठक भी वहाँ उपस्थित थे। रावसाहब ने यहाँ चार बजे तक दिल से गाया। मेरे बाल्यकाल की यह स्मृति मेरे लिए आज भी महत्वपूर्ण है। रावसाहब ने इतना अच्छा गाया था कि दिलदार बख्श और रामकिसन महाराज दोनों ने कहा कि ऐसा गायन तो हमारे लिए तालीम के बराबर है। मैंने अपने पिताजी और जनार्दन पाठक से बाद में सुना था कि रावसाहब स्वयं अपने उस गायन से सन्तुष्ट हुए थे और उन्होंने कहा था कि अब मैं बाहर नहीं गाऊँगा, क्योंकि यह मेरा रोज का काम नहीं है। कभी अच्छा नहीं गाया जाता, तो मन को कष्ट होता है। वास्तव में फिर उन्होंने बाहर कभी नहीं गाया।

१९२३ में मैंने संगीत के संबंध में एक लेख लिखा और उसे भातखंडे जी के पास भेज दिया। छः महीने तक मुझे जवाब नहीं मिला तो मैं बम्बई गया, और उन्होंने मुझे उस लेख को फिर से लिखने के लिए कहा। हर बार मैं लेख लिखता और हर छः महीने के बाद मुझे फिर से लिखने के लिए वे कहते रहे। इस तरह चार साल तक चलता रहा। उनका आशय यही था कि इस तरह मैं लिखूं तो सही, पर उसे छपाने की शीघ्रता न दिखाऊँ। इससे बार-बार विचार भी सुलझ जाते हैं और प्रौढ़ता भी आती है।

इससे बहुत पहले की एक बात और है, जिसे शायद बहुत कम लोग जानते हैं। बम्बई में एक नामी वकील थे शांताराम पाटकर। भातखंडे जी ने जब लॉ कर लिया तो वे करांची

चले गये। वहाँ उनकी पत्नी की तबीयत खराब रहने लगी। एक लड़की हुई थी, वह मर गयी। पत्नी का भी देहान्त हो गया। इससे करांची छोड़कर भातखंडे जी बम्बई आ गये और शांताराम वकील के साथ सहयोगी के तौर पर काम करने लगे। भातखंडे जी कहा करते थे कि अगर मेरे पास पचास हजार रुपये एकत्र हो जाएं, तो मैं वकालत छोड़कर जीवन भर संगीत की सेवा करूँगा। संयोग की बात है शांताराम के साथ कार्य करने से १२ वर्ष के भीतर उनके पास पचास हजार रुपए के लगभग रकम एकत्र हो गयी और अपने निश्चय के अनुसार भातखंडे जी ने वकालत छोड़ दी। शांताराम पाटकर बहुत समझदार व्यक्ति थे। उन्होंने राव साहब की उस रकम का एक ट्रस्ट बना दिया ताकि उसका ठीक उपयोग होता रहे। इसी रकम से रावसाहब ने संगीत संबंधी अपने बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित किये और आजीवन अच्छी तरह रहे।

१९१० के लगभग भातखंडे जी ने राग मालिका और गीतमालिका सीरीज छपवानी आरम्भ की। हर पुस्तक में १६ रचनाएं संकलित की गई थीं। मगर संकलित चीजें जो कि उन्हें कई प्रसिद्ध उस्तादों से प्राप्त हुई थीं, एकत्र करते समय एक घटना हो गयी। एक उस्ताद ने कहा कि अपनी चीजें तो मैं हजार-हजार रुपया लेकर दूँगा। रावसाहब को उस वक्त चीजें लेनी थीं और उन्होंने पैसा भी दिया। मगर उन्होंने निश्चय कर लिया कि यही चीजें मैं सब के लिए सुलभ कर। लोगों तक पहुँचाऊंगा। खैर, उन्होंने चीजें एकत्र कीं और उस संकलन को गायन उत्तेजक समाज के दो सदस्यों ने पूर्ण सद्भावनाओं के साथ अपनी ओर से छापकर बिना मूल्य रावसाहब को दे दिया। इनमें से एक व्यक्ति भाटिया थे तथा दूसरे पारसी। वास्तव में रावसाहब को निस्वार्थ सेवा करते देख बहुत से लोगों की सद्-भावनाएं उनके साथ थीं। शायद इसी सद्भावना को लेकर लोकमान्य तिलक के सुप्रसिद्ध 'केसरी' के सम्पादक स्वर्गीय नरसिंह चिन्तामन केलकर ने रावसाहब को एक बार कहा, 'आप और हम तो एक ही जाति के हैं, आप अपनी पुस्तकें केसरी प्रेस में क्यों नहीं छपवाते ?' रावसाहब ने इस पर कहा कि—'अगर आप मेरी किताब बिना मूल्य छाप सकें तो मुझे कोई ऐतराज न होगा।' केलकर केवल जाति की दृष्टि से विचार करते थे, अतएव दोनों के बीच बात नहीं बनी। क्योंकि भातखंडे जी जातीयता को कतई महत्व नहीं देते थे। अन्ततः किताबें केसरी प्रेस से नहीं छप सकीं। शायद यही कारण रहा होगा कि भात-खंडे जी का महाराष्ट्र में उस समय प्रायः विरोध किया गया। आज जो स्थिति है उसे सब जानते हैं।

---

सूचना—उपरोक्त संस्मरण 'स्मृतियों के संचित पराग' की अनुक्रमणिका में न तो समा-विष्ट हो सका है और न उसकी पृष्ठ संख्या ही क्रमवार है। आशा है पाठक इस त्रुटि के लिये क्षमा प्रदान करेंगे।—सम्पादक